एक चुटकी खुशी

(श्री जगदीश प्रसाद मण्डल के मैथिली कथा संग्रह 'एक चुटकी खुशी' का हिंदी अनुवाद)

एक चुटकी खुशी

मैथिली कथा संग्रह

जगदीश प्रसाद मण्डल

एक चुटकी खुशी

हिंदी अनुवाद

रामेश्वर प्रसाद मण्डल

एक चुटकी खुशी

जगदीश प्रसाद मण्डल

हिंदी अनुवाद

रामेश्वर प्रसाद मण्डल

पल्लवी प्रकाशन
बेरमा/निर्मली

EK CHUTKEE KHUSHEE

Hindi Translation of the Maithili Short Stories Collection "Ek Chutkee Khushee"
Original Author: Shri Jagdish Prasad Mandal
Hindi Translation: Rameshwar Prasad Mandal

Ek Chutkee Khushee is a collection of stories rooted in the everyday life of rural Mithila, where existence unfolds through labor, seasons, rituals, and quiet moral choices. The narratives center on ordinary people who live close to the land and tradition, confronting scarcity, inequality, and emotional restraint with quiet resilience. Rather than relying on dramatic events, the book draws its strength from keen observation, introspection, and the subtle movements of the human mind.

These stories examine how dignity endures amid hardship, how tradition both supports and restricts, and how social ties are strained by the tides of change. Here, happiness is neither grand nor lasting. It appears briefly, like a pause in struggle, shaped by empathy, patience, and moral clarity. That fleeting moment of contentment gives the collection both its title and its deeper significance.

Together, these stories offer a compassionate and thoughtful portrait of rural society, where moral questions arise naturally from lived experience rather than abstract reasoning.

Published by: Pallavi Prakashan
Tulsi Bhawan, Nehru Marg, Ward no. 06, Nirmali, District- Supaul, Bihar: 847452

First Edition: 2026
ISBN: 978-93-48865-91-5
Price: 299/-
Copyright: © Publisher

Printed by: Manav Art (Pallavi Prakashan)
Typography: Dr. Umesh Mandal, umeshberma@gmail.com
Cover Design: Mrs. Poonam Mandal, Nirmali, Supaul, Bihar- 847452

Website: http://pallavipublication.blogspot.com
E-mail: pallavi.publication.nirmali@gmail.com
Mobile: +91 99316 54742, +91 62006 35563
Font source: https://fonts.google.com/,
https://github.com/virtualvinodh/aksharamukha-fonts

All rights reserved. No part of this publication may be reproduced or transmitted in any form or by any means without the prior written permission of both the author and the publisher.

समर्पण

उन लोगों को,
जो जीवन को शोर में नहीं,
धैर्य और सहनशीलता की चुप्पी में जीते हैं।

जो हर दिन अभाव के साथ समझौता करते हुए भी
मनुष्यता का संतुलन नहीं खोते।
जिनके लिए उत्सव भी एक जिम्मेदारी है
और दुख भी बिना प्रदर्शन के सह लिया जाता है।

यह पुस्तक उन क्षणों को समर्पित है
जहाँ संघर्ष के बीच अचानक
एक चुटकी खुशी जन्म लेती है-
क्षणिक, सच्ची, और मन को थाम लेने वाली।

उन्हीं के नाम,
जिनकी साधारण जिंदगी
अपने भीतर गहरे अर्थ छुपाए रहती है।

- रामेश्वर प्रसाद मण्डल

अनुक्रमः

भूमिका

लोक लाज

धान का कमठौन

एक चुटकी खुशी

अन्य के सिरे

समय का फेर

आलसी

मुहाँ-ठुठ्ठी

दमघूँट कर मरने लगा

जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि

चौठचंद्र का केला

भूमिका

अनुवादक की ओर से

'एक चुटकी खुशी' का अनुवाद करते हुए सबसे पहली बात जो स्पष्ट होती है, वह यह कि जगदीश प्रसाद मण्डल का लेखन किसी सीमित भूगोल या लोक-रंग तक सीमित नहीं है। मिथिलांचल उनका परिवेश अवश्य है, पर उनकी दृष्टि मनुष्य और समाज के उस व्यापक अनुभव से जुड़ी है, जिसे किसी एक भाषा, क्षेत्र या समय में बाँधा नहीं जा सकता। यही गुण उनके लेखन को स्थानीय होते हुए भी वैश्विक बनाता है।

मण्डल जी की लेखन-शैली की सबसे बड़ी विशेषता उसका संयम है। वे न तो कथ्य को भावुकता के अतिरेक में ले जाते हैं, न ही विचारधारा के शोर में दबाते हैं। उनकी भाषा शांत, निरीक्षणशील और आत्मसंयमी है। घटनाएँ भले ही कम हों, पर उनके अर्थ गहरे होते हैं। वे जीवन को ऊँची आवाज़ में नहीं, बल्कि धीमी और सटीक वाक्य-रचना के माध्यम से उद्घाटित करते हैं। यह शैली विश्व साहित्य की उस परंपरा से जुड़ती है, जहाँ लेखक पाठक को निर्देश नहीं देता, बल्कि अनुभव के सहारे सोचने के लिए आमंत्रित करता है।

उनकी कथाओं में 'लोक' केवल पृष्ठभूमि नहीं है, बल्कि संरचना का मूल तत्व है। खेत, बाड़ी, पर्व, श्रम, रिश्ते और संवाद मिलकर जीवन का वह नैतिक ताना-बाना रचते हैं, जिसमें पात्र साँस लेते हैं। लोक-लाज, स्मृति, श्रम-संस्कृति और विवेक जैसे तत्व किसी उपदेश के रूप में नहीं आते, बल्कि पात्रों की चुप्पी, हिचक और निर्णयों के माध्यम से स्वाभाविक रूप से प्रकट होते हैं। यही स्वाभाविकता मण्डल जी के लेखन को प्रामाणिक बनाती है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है नैतिक जटिलताओं को सहजता से प्रस्तुत करने की क्षमता। मण्डल जी किसी पात्र को पूरी तरह सही या गलत ठहराने से बचते हैं। उनके यहाँ जीवन द्वंद्वों में खुलता है, जैसे परंपरा और आधुनिकता, आस्था और विवेक, समाज और व्यक्ति। ये सब एक-दूसरे के सामने खड़े भी हैं और संवाद में भी शामिल हैं। यही दृष्टि उन्हें एक नैतिक लेखक बनाती है, पर नैतिकतावादी नहीं। इसी अंतर के कारण वे समकालीन यथार्थ से भी जुड़े रहते हैं और वैश्विक साहित्यिक संवेदना के निकट पहुँचते हैं।

भाषा के स्तर पर मण्डल जी की शैली अलंकरण-विहीन, पर गहराई से भरपूर है। उपमाएँ और प्रतीक सजावट के लिए नहीं, बल्कि विचार की रीढ़ के रूप में प्रयुक्त होते हैं। 'लोक-लाज', 'कमठौन', 'समयक फेड़' जैसे शब्द स्वयं में सांस्कृतिक अवधारणाएँ हैं, जिनके माध्यम से लेखक पूरे सामाजिक ढाँचे को सामने रख देता है। यह शैली पाठक से धैर्य की माँग करती है, पर बदले में उसे गहन बौद्धिक और भावनात्मक संतोष देती है।

'एक चुटकी खुशी' संग्रह में यह शैली अपनी परिपक्व अवस्था में दिखती है। यहाँ 'सुख' को किसी उपलब्धि, उत्सव या विजय के रूप में नहीं, बल्कि एक अंतर्दृष्टि के रूप में देखा गया है, जो आत्मबोध और संतुलन से जन्म लेती है। यही दृष्टि आधुनिक विश्व के उस पाठक से भी संवाद करती है, जो तेज़ी, प्रतिस्पर्धा और उपलब्धियों के बीच मानसिक स्थिरता की तलाश में है। इस अर्थ में मण्डल जी की कथाएँ भारतीय ग्रामीण जीवन से निकलकर वैश्विक मनुष्य तक पहुँचती हैं।

अनुवाद के स्तर पर मेरा प्रयास यही रहा है कि इस संयमित, विचारप्रधान और नैतिक रूप से संतुलित शैली को हिंदी में यथासंभव सुरक्षित रखा जाए। न तो भाषा को अनावश्यक रूप से बोझिल बनाया गया है, न ही उसे इतना सरल किया गया है कि मूल का गंभीर

स्वर टूट जाए। मेरा उद्देश्य पाठक तक कथाओं की आत्मा पहुँचाना रहा है, ताकि वह मण्डल जी के लेखन को केवल पढ़े नहीं, बल्कि अनुभव करे।

विश्व साहित्य में जिन रचनाकारों को स्थायी महत्त्व मिला है, उनकी पहचान यही रही है कि वे अपने समय और समाज को गहराई से समझते हुए भी मनुष्य के सार्वकालिक प्रश्नों से जुड़े रहते हैं। जगदीश प्रसाद मण्डल का लेखन इसी परंपरा में स्थित दिखाई देता है। 'एक चुटकी खुशी' उसी लेखकीय चेतना का सशक्त प्रमाण है।

लोक लाज: यह कथा ग्रामीण समाज के भीतर मौजूद नैतिक द्वंद्व, परंपरा और बदलते समय के तनाव को गहराई से उद्घाटित करती है। अगहन मास के नवान पर्व की पृष्ठभूमि में रची गई यह कहानी सतन काका और मंगल भाई जैसे पात्रों के माध्यम से यह प्रश्न उठाती है: क्या लोक-परंपराएँ केवल आस्था का विषय हैं, या वे सामाजिक दबाव का एक औज़ार भी हैं?

सतन काका लोक-लाज को समाज की नैतिक धरोहर मानते हैं। उनके लिए नवान केवल एक पर्व नहीं है; यह सामूहिक अनुशासन, सामाजिक मर्यादा और परंपरागत चेतना का प्रतीक बनकर सामने आता है। मंगल भाई बदलते समय की व्यावहारिक सोच का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे परंपरा को अस्वीकार नहीं करते, पर उसे हर स्थिति में अपरिवर्तनीय भी नहीं मानते। उनके लिए परंपरा का मूल्य उसकी उपयोगिता और समय-सापेक्षता से तय होता है। इसी दृष्टि से उनके संवादों में आधुनिक कृषि, उत्पादन-प्रणाली, 'जय जवान जय किसान' जैसे विचार और 'श्रीअन्न' की अवधारणा उभरती है, जो पारंपरिक धार्मिक निषेधों पर सवाल उठाती है।

इस कथा की विशेषता यह है कि लेखक किसी एक पक्ष को

अंतिम सत्य घोषित नहीं करते। सतन काका की लोक-लाज सामाजिक संतुलन और सामूहिक मर्यादा को सुरक्षित रखने की भावना से प्रेरित है, जबकि मंगल भाई की सोच जीवन की वास्तविक परिस्थितियों और समय की माँगों से आकार लेती है। दोनों के बीच का संवाद व्यक्तिगत मतभेद से आगे बढ़कर ग्रामीण समाज में हो रहे संक्रमण का संकेत बनता है, जहाँ परंपरा और आधुनिकता साथ-साथ टकराती भी हैं और एक-दूसरे को परखती भी हैं।

'लोक लाज' उस सामाजिक चेतना की कथा है, जिसमें पर्व, आस्था, कृषि और जीवन एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हुए हैं। यह कहानी स्पष्ट करती है कि लोक-लाज सामाजिक आडंबर तक सीमित नहीं रहती, वह मानवीय संवेदनशीलता और सामाजिक उत्तरदायित्व की कसौटी के रूप में सामने आती है। यही अंतर्विरोध इस कथा को वैचारिक गहराई देता है और उसे समकालीन संदर्भों में अर्थपूर्ण बनाता है।

धानक कमठौन: यह कथा मूलतः एक किसान-चित्त की कथा है, जो बदलते समय के शोर में अपने जीवन-मूल्यों को बचाए रखने का संकल्प करता है। विश्वनाथ बाबा एकचलिया और एकबोलिया हैं, पर उनकी जिद किसी हठ से नहीं, अनुभव से उपजे विवेक से आकार लेती है। बाड़ी में रोगग्रस्त लताम के फलों को देखकर उनका मन इसलिए टूटता है कि फल उनके लिए स्वाद या लाभ भर नहीं, स्वावलंबन और श्रम-संस्कृति का प्रतीक हैं। इसी क्षण मोबाइल और आधुनिक हुल्लड़ का प्रवेश होता है, जो पारंपरिक जीवन-तंत्र को निरंतर विचलित करता चला आ रहा है।

विद्यालय के प्रिंसिपल का फोन और क्रिकेट फाइनल में पुरस्कार-वितरण का आग्रह कथा के केंद्रीय टकराव को स्पष्ट करता है। लेखक खेल के विरोध में खड़े नहीं होते, उनका निशाना उस

सामाजिक प्रवृत्ति पर है जिसमें बाल-धन यानी बच्चों की ऊर्जा और भविष्य, खेल-धन की चकाचौंध में उलझकर खेती, श्रम और उत्पादन जैसे मूल जीवन-मूल्यों से दूर होता जा रहा है। विश्वनाथ बाबा का इनकार इसी दूरी के विरुद्ध खड़ा एक नैतिक प्रतिरोध बन जाता है।

कथा की भाषा लोक-उपमाओं से संपृक्त है। ये उपमाएँ सजावट नहीं, विचार की संरचना हैं। 'प्रिंसिपल की बाढ़' जैसी टिप्पणी व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य रचती है, जबकि 'होटल की प्रेमिका' वाली उक्ति बाबा की उस समझ को उजागर करती है, जिसमें दुनिया के छल-तंत्र साफ दिखाई देते हैं। अंत में सुधीर का कहना- "जन लगाकऽ कमठौन करा लेब", पीढ़ियों के बीच संवाद की संभावना खोल देता है। बाबा का निष्कर्ष कि "धन्य-धान्य वही है जो धन को धन समझे" इस कथा को कृषक-संस्कृति के पक्ष में एक गहन, समकालीन और आलोचनात्मक वक्तव्य में रूपांतरित कर देता है।

एक चुटकी खुशी: मूलतः मनुष्य की आंतरिक यात्रा की कथा है, जहाँ जीवन की वास्तविक प्रसन्नता बाहरी साधनों में नहीं, बल्कि चेतना के रूपांतरण में खोजी गई है। पचास वर्ष की आयु पार कर चुके महादेव भाई अब तक यह नहीं समझ पाए हैं कि जीवन में सुख कैसे आता है। उनका जीवन सामाजिक विसंगतियों, धार्मिक आडंबरों, जातिगत खाइयों और राजनीतिक भ्रम से घिरा हुआ है। इसके साथ ही बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदा, खेती का संकट, पशुओं के चारे की कमी और रोजमर्रा की असुरक्षा जीवन को और कठिन बना देते हैं। इसी यथार्थपूर्ण परिवेश में कथा आगे बढ़ती है और मनुष्य के बाहरी संघर्षों के साथ-साथ उसके भीतर चल रहे मानसिक द्वंद्व को भी उभारती है।

कथावाचक और महादेव भाई के बीच संवाद के माध्यम से

समाज की वर्तमान दिशा पर गहन टिप्पणी की गई है। धर्म, जाति और विचारधाराओं के नाम पर बिखरता समाज, शिक्षा और राजनीति की दिशाहीनता, तथा मानवीय संवेदनशीलता का क्षरण कथा के केंद्र में है। महादेव भाई के विचारों में तुलसीदास, वाल्मीकि और विद्यापति जैसे संदर्भ आते हैं, जो यह संकेत देते हैं कि भारतीय परंपरा में जीवन को देखने की दृष्टि सदा से आंतरिक रही है। इन्हीं विचारों के बीच एक सुबह महादेव भाई को जीवन-दृष्टि प्राप्त होती है। उन्हें यह बोध होता है कि "जेहेन दृष्टि, तेहेन सृष्टि"। यह अनुभूति उनके भीतर आत्मा, चेतना और जीवन के अर्थ को लेकर एक नई समझ उत्पन्न करती है।

कथा का निष्कर्ष किसी बाहरी घटना से नहीं, मन के भीतर घटित परिवर्तन से आकार लेता है। महादेव भाई यह स्वीकार करते हैं कि खुशी किसी उपलब्धि या परिस्थितिजन्य संयोग का परिणाम नहीं होती, वह मन में रोपा गया ऐसा बीज है जो सही दृष्टि और समझ मिलने पर विकसित होता है। इसी भावभूमि पर ‘एक चुटकी खुशी’ आधुनिक मनुष्य के जीवन-संघर्षों के बीच आत्मबोध और मानसिक संतुलन की आवश्यकता को सामने लाती है। कथा यह स्पष्ट कर देती है कि सुख की खोज बाहर नहीं, उस चेतना में है जहाँ व्यक्ति अपने जीवन को समझने और संतुलित करने की क्षमता अर्जित करता है।

अन्य के सिरे: यह एक गहन वैचारिक कथा है, जो व्यक्ति, समाज और जीवन-दृष्टि के अंतर्संबंधों को सूक्ष्म स्तर पर उद्घाटित करती है। मिथिलांचल के सूरजपुरा गाँव की पृष्ठभूमि में रची गई इस कथा का केंद्र गोपाल काका जैसे वृद्ध पात्र हैं, जिनके माध्यम से जीवन का दीर्घ अनुभव, श्रम-संस्कृति, सामाजिक संरचना और नैतिक चेतना एक साथ उभरती है। अस्सी वर्ष की आयु पार कर चुके गोपाल काका किसी असाधारण उपलब्धि के कारण महत्त्वपूर्ण नहीं ठहरते, बल्कि अपने संतुलित जीवन-बोध के कारण कथा की

वैचारिक धुरी बनते हैं। उन्होंने जीवन को उतावलेपन में नहीं जिया, बल्कि धैर्य, सतत निरीक्षण और संचित अनुभव के सहारे समझा और साधा है।

यह कथा आधुनिक समाज की उस प्रवृत्ति की आलोचना करती है, जहाँ विकास की गति तो तेज़ हुई है, लेकिन मानवीय मूल्य और श्रम-संस्कृति धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही है। खेती, प्रकृति और सामाजिक ढाँचे के संदर्भ में लेखक यह स्पष्ट करते हैं कि तकनीकी प्रगति के बावजूद मिथिलांचल का किसान-जीवन संकटग्रस्त है और समाज वैचारिक रूप से बँट चुका है। गोपाल काका का जीवन इस विघटन के बीच संतुलन का उदाहरण प्रस्तुत करता है। वे न तो अतीत-पूजक हैं और न ही वर्तमान के अंध-समर्थक। उनका अनुभव यह बताता है कि समाज दोहरा हो सकता है, पर व्यक्ति को अपनी जीवन-रेखा स्वयं ही खींचनी होती है।

रामप्रीत और गोपाल काका के संवाद कथा को वैचारिक स्तर पर गहराई देते हैं। इनके बीच बातचीत से 'अपना सिरे' और 'अनका सिरे' का अंतर स्पष्ट होता है। 'अनका सिरे' पर जीना उस जीवन-पद्धति का संकेत है, जो सामाजिक दबाव, प्रशंसा-निंदा और बाहरी अपेक्षाओं से संचालित होती है। इसके विपरीत 'अपना सिरे' पर जीना आत्मनिर्णय, आत्मबोध और भीतर के संतुलन से जुड़ा हुआ जीवन है।

कथा का निष्कर्ष किसी उपदेशात्मक वक्तव्य या नारे में नहीं ढलता, वह गोपाल काका के सहज कथन में निहित रहता है। उनका यह भाव कि जीवन की सार्थकता दूसरों के बनाए मानदंडों में नहीं, अपने विवेक और मुस्कान में है, कथा के पूरे वैचारिक प्रवाह को एक शांत, परिपक्व अर्थ प्रदान करता है।

इस प्रकार 'अनका सिरे' आधुनिक मनुष्य को यह सोचने के

लिए प्रेरित करती है कि वह अपना जीवन किसके अनुसार जी रहा है- समाज के, या अपने। यही प्रश्न इस कथा की केंद्रीय वैचारिक उपलब्धि है।

समयक फेड़: एक ऐसी कथा है जो ग्रामीण समाज के बदलते नैतिक मानदंडों और सामूहिक स्मृति की स्वार्थपरक प्रकृति को उजागर करती है। महादेवपुर गाँव के वसन्त भाई और शरद भाई वर्षों से एक-दूसरे के अत्यंत निकट हैं। उनका संबंध केवल मित्रता तक सीमित नहीं है, बल्कि वह गुरु-शिष्य जैसी आत्मीयता से भरा हुआ है, जिसमें जीवन के अनुभव, समय-बोध और कर्म-संस्कार की बातें निरंतर साझा होती रहती हैं। इसी घनिष्ठता के चलते एक दिन शरद भाई के मन में बीस वर्ष पुरानी एक घटना काँटे की तरह चुभती है और उसी के सहारे कथा अपना केंद्रीय प्रश्न उठाती है।

बीस वर्ष पहले, वसन्त भाई की बड़ी बेटी सुदामा विवाह योग्य हो चुकी थी। वसन्त भाई का मानना था कि जब संतान विवाह योग्य हो, तो उसकी इच्छा और भविष्य का विचार करना माता-पिता का कर्तव्य बनता है। परंतु उस समय गाँव-समाज ने उनका साथ नहीं दिया। समाज का रवैया अवसरवादी और दोहरा था। वसन्त भाई इस पीड़ा को व्यक्त करते हैं कि जिस समाज ने 'सीता स्वयंवर' जैसी पौराणिक कथाओं को उत्सव की तरह अपनाया, वही समाज अपने बीच घटित होने वाली वास्तविक घटनाओं पर मुँह फेर लेता है। उस समय जिन लोगों ने विरोध किया था, आज वही लोग समय बदलने पर 'समयक फेड़' कहकर अपनी सुविधा के अनुसार नए तर्क गढ़ रहे हैं। कथा इस परिवर्तन को दर्शाती है कि सामाजिक नैतिकता स्थिर नहीं होती, वह अक्सर अपने स्वार्थ के अनुसार रंग बदलती है।

कथा का मुख्य विचार यह उभरकर सामने आता है कि समाज अनेक बार न्याय का मानदंड नहीं रह जाता, वह दबाव और नियंत्रण

की एक संरचना में बदल जाता है। वसन्त भाई के संवादों से स्पष्ट होता है कि अंतरजातीय या स्वेच्छा से किए गए विवाह जैसे निर्णयों पर समाज आरंभ में तीखी और कठोर प्रतिक्रिया देता है। समय बीतने के साथ वही निर्णय सामान्य व्यवहार का हिस्सा मान लिए जाते हैं और पहले किए गए विरोधों को चुपचाप भुला दिया जाता है। 'समयक फेड़' यहाँ केवल समय के प्रवाह का संकेत नहीं देता, यह समाज के चरित्र और उसकी अवसरवादी नैतिकता के परिवर्तन का प्रतीक बन जाता है।

इस कथा में शरद भाई की भूमिका 'स्मृति के उद्घाटन' की है। वे अतीत के उस प्रसंग को वर्तमान के सामने रख देते हैं, जिससे देखने की दृष्टि बदलती है। इसी प्रक्रिया में वसन्त भाई की वर्षों से दबाई गई पीड़ा शब्दों में ढलती है और कथा सामाजिक विस्मृति तथा नैतिक सुविधावाद पर एक सटीक टिप्पणी के रूप में उभर आती है।

शैली की दृष्टि से यह कथा संवादप्रधान है और लोक-उपमाओं के माध्यम से सामाजिक मनोविज्ञान की परतें खोलती है। इसका निष्कर्ष किसी उपदेश की तरह नहीं, बल्कि वसन्त भाई के अनुभवजन्य कथनों के रूप में आता है, जो यह बताते हैं कि समाज के निर्णय अक्सर स्थायी सत्य नहीं होते। वे समय, सुविधा और भय के अनुसार बदलते रहते हैं। यही कारण है कि 'समयक फेड़' समकालीन ग्रामीण जीवन के भीतर नैतिक द्वंद्व और सामाजिक पाखंड की एक सटीक आलोचनात्मक प्रस्तुति बन जाती है।

आलसी: यह कथा मिथिलांचल के मक्खनपुर गाँव की पृष्ठभूमि में पारिवारिक सत्ता, सामाजिक प्रतिष्ठा और अपमान की उस मानसिकता को उजागर करती है, जहाँ बीमारी एक शरीरगत यथार्थ से अधिक सामाजिक कलंक बन जाती है।

कथावाचक पहले गाँव का एक मौखिक इतिहास रचता है और

फिर यह दर्शाता है कि जल-सुविधा और कृषि में सुधार के साथ-साथ गाँव में जनसंख्या बढ़ती है, घर-जमाई की संख्या में वृद्धि होती है, और उसी के साथ आलस्य, ताश-परस्ती तथा श्रम-विमुखता की एक नई संस्कृति विकसित होती है। यह परिवर्तन विकास का उत्सव नहीं बनता, बल्कि सामाजिक संरचना में विकृति, जिम्मेदारी से पलायन और रोगों के प्रसार जैसी विडंबनाओं को जन्म देता है।

कथा यह संकेत देती है कि कोढ़ जैसी बीमारी कुछ बाह्य कारणों से आती है और कुछ स्थानीय परिस्थितियों से उत्पन्न होती है; पर उससे भी बड़ा रोग है वह मानसिकता जो श्रम को प्रतिष्ठा के विरुद्ध मानती है, काम से रोकती है और निर्भरता को स्वाभिमान का रूप देकर पालती है।

कथा का केंद्र बालगोबिन और माङैन की भैयारी है। बालगोबिन परिवार का बड़ा होते हुए भी निर्णय-शक्ति में कमजोर है, इसलिए परिवार माङैन के संरक्षण में चलता है। बालगोबिन का विवाह नहीं हुआ, पर वह इसे न तो अभाव की तरह जीता है, न ही हीनता के रूप में। उसके भीतर गहरा पारिवारिक भाव है–वह भाई के बच्चों को अपना मानता है और श्रम को जीवन का मूल आधार समझते हुए खेत, पशु और घर-बाहर की जिम्मेदारियाँ निभाता है।

इसी श्रमशीलता के बावजूद जब उसे 'कोढ़ि' कह दिया जाता है, तो कथा निर्णायक मोड़ पर पहुँचती है। यहाँ यह शब्द रोग का निदान नहीं, बल्कि अपमान का औजार बन जाता है। माङैन, दरअसल, बालगोबिन के पैर की चोट को समझने के बजाय, दरवाजे पर बैठे लोगों के सामने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए उसे 'भारी कोढ़ि' कह देता है। इस एक कथन से कथा यह दिखाती है कि गाँव-समाज में प्रतिष्ठा कितनी बार सत्य से ऊपर बैठ जाती है और 'इज्जत' के नाम पर करुणा का गला घोंट दिया जाता है।

मुहाँ-ठुठ्ठी: यह कथा पारिवारिक जीवन के भीतर पीढ़ीगत सोच, अनुभव और व्यवहार के टकराव को अत्यंत सूक्ष्मता से प्रस्तुत करती है। कथा की शुरुआत सुबह के समय सहना दादी के रोज़मर्रा के कार्यों से होती है, जहाँ गिरा हुआ कच्चा केले का घौर केवल एक घरेलू वस्तु नहीं रह जाता, बल्कि पूरे कथानक का प्रतीक बन जाता है।

अत्यधिक वर्षा और जलभराव के कारण केले का पौधा नष्ट हो जाना प्रकृति की अनिश्चितता को दर्शाता है, जबकि उस गिरे हुए घौर को सहना दादी द्वारा सहेजकर घर लाना उनके जीवन-दृष्टिकोण की व्यावहारिकता और संघर्षशीलता को उजागर करता है।

कथा का केंद्र सहना दादी, उनकी बहू सरोजनी और पोता सुमंगल हैं। सहना दादी उस पीढ़ी की प्रतिनिधि हैं जिसने अभाव में जीवन जिया है, जहाँ हर वस्तु का उपयोग विवेक से जुड़ा था। उनके लिए कच्चे केले से सब्ज़ी बनाना असामान्य नहीं है, बल्कि जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसके विपरीत, सरोजनी आधुनिक घरेलू दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है, जो सुविधाओं में पली-बढ़ी है और जिसे ऐसी सब्ज़ी ‘अजोह’ और ‘असभ्य’ लगती है। उसका कथन, “बाप-जनम जे नइ देखलौं,” दरअसल उसकी अनुभवहीनता और स्मृति से विच्छेद का सूचक है।

यहाँ ‘मुहाँ-ठुठ्ठी’ केवल चेहरे के भाव नहीं, बल्कि उस मानसिक संकुचन का प्रतीक बन जाता है जो नई पीढ़ी को अपने पूर्वजों के अनुभव से काट देता है।

सहना दादी का संवाद-शिल्प इस कथा की वैचारिक रीढ़ है। वे प्रत्यक्ष टकराव से बचते हुए पोते सुमंगल को संवाद का माध्यम बनाती हैं। यह चयन दर्शाता है कि वे पारिवारिक संतुलन बनाए रखना चाहती हैं, ताकि बहू की प्रतिष्ठा भी बनी रहे और पोते को जीवन की व्यापक

दृष्टि भी मिल सके। सुमंगल का जिज्ञासु और ग्रहणशील मन नई पीढ़ी की उस संभाव्यता का प्रतीक है, जहाँ सीखने की संभावना अभी शेष है।

सहना दादी उदाहरणों के माध्यम से यह स्पष्ट करती हैं कि भोजन, स्वाद और उपयोगिता भौगोलिक क्षेत्र और सांस्कृतिक संदर्भों के अनुसार बदलते हैं। जो एक स्थान पर त्याज्य है, वही दूसरे स्थान पर पोषण और परंपरा का हिस्सा बन सकता है।

कथा का मूल विचार यह है कि जीवन के मूल्य केवल स्वाद या सुविधा से नहीं बनते, बल्कि अनुभव, परिस्थितियों और सामूहिक स्मृति से निर्मित होते हैं। सहना दादी की दृष्टि में अभाव कोई लज्जा की बात नहीं है, बल्कि यह विवेक और आत्मनिर्भरता की पाठशाला है। इसके विपरीत, सरोजनी की झिझक उस सामाजिक मानसिकता को दर्शाती है, जो दिखावे और तथाकथित सभ्यता के दबाव में अपनी अनुभव-विरासत को तुच्छ मानने लगती है।

कथा किसी उपदेशात्मक निष्कर्ष पर नहीं पहुँचती, बल्कि पाठक को यह सोचने पर विवश करती है कि क्या आधुनिकता वास्तव में प्रगति है, या यह स्मृति और विवेक से एक कटाव है।

इस प्रकार 'मुहाँ-ठुठ्ठी' एक घरेलू प्रसंग के माध्यम से संस्कृति, भोजन, पीढ़ीगत संवाद और जीवन-बोध की एक गहन कथा बन जाती है, जहाँ साधारण-सी केले की सब्ज़ी भी समाज और समय के बड़े प्रश्नों को उठाने का माध्यम बन जाती है।

दमघूँट कर मरने लगा: यह कथा ग्रामीण जीवन की उस करुण सच्चाई को सामने लाती है, जहाँ असहायता, भय और अनुभवजन्य अविश्वास मिलकर मनुष्य को भीतर से तोड़ देते हैं। रामफल काका का जीवन बार-बार पत्नी-वियोग, पारिवारिक जिम्मेदारियों और सामाजिक दबावों से गुज़रा है। पहली पत्नी की मृत्यु, दूसरी पत्नी के

साथ थोड़े समय का पारिवारिक सुख और फिर उसका भी छिन जाना, इन घटनाओं ने उनके मन में यह गहरा भय बसा दिया है कि बीमारी और अस्पताल एक साथ मृत्यु को आमंत्रित करते हैं। इसी स्मृति के कारण वे वर्तमान संकट में भी आधुनिक चिकित्सा की ओर सहज रूप से नहीं बढ़ पाते।

कथा का केंद्र उनकी तीसरी पत्नी की अचानक बिगड़ती हालत है। घरेलू उपचार, झाड़-फूँक और धार्मिक आस्थाओं का सहारा लिया जाता है, क्योंकि रामफल काका को यही उपाय सुरक्षित प्रतीत होते हैं। अस्पताल का नाम लेते ही अतीत की त्रासदी उनके सामने आ खड़ी होती है। यह भय केवल व्यक्तिगत नहीं है, बल्कि उस ग्रामीण समाज की सामूहिक स्मृति से जुड़ा हुआ है, जहाँ इलाज से अधिक पुराने अनुभवों पर विश्वास किया जाता है। पत्नी की पीड़ा धीरे-धीरे पृष्ठभूमि में चली जाती है और रामफल काका की मानसिक बेचैनी पूरे कथानक को अपने घेरे में ले लेती है।

संघर्ष अपने चरम पर तब पहुँचता है जब सारे प्रयास निष्फल हो जाते हैं और रामफल काका का दबा हुआ दुख एक प्रश्न बनकर फूट पड़ता है- "औनाकऽ मरैबला कि हमहीं टा छी?" यह प्रश्न केवल पत्नी की संभावित मृत्यु नहीं, बल्कि उस सामाजिक व्यवस्था पर भी है, जिसमें वृद्ध, गरीब और भयग्रस्त व्यक्ति स्वयं को अकेला और उपेक्षित महसूस करता है। यहाँ मृत्यु से अधिक पीड़ादायक है मृत्यु की आशंका, जो व्यक्ति की सोच, निर्णय और आस्था तक को जकड़ लेती है।

संक्षेप में, यह कथा मृत्यु का वर्णन नहीं करती, बल्कि मृत्यु-भय की प्रक्रिया को उजागर करती है। अंधविश्वास, गरीबी, चिकित्सा-भय और वृद्धावस्था का अकेलापन मिलकर एक ऐसी मानसिक स्थिति निर्मित करते हैं, जहाँ अंततः आँसू ही अंतिम भाषा बन जाते

हैं। कथा किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचती, बल्कि पाठक को उस मौन के सामने खड़ा कर देती है, जो ग्रामीण जीवन की सबसे गहरी त्रासदी बन चुका है।

जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि: यह कथा किशोर जीवानन्द की मानसिक जिज्ञासा और उसके माध्यम से जीवन-दृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया को केंद्र में रखती है। मैट्रिक परीक्षा के बाद खाली बैठे जीवानन्द को यह अनुभव होता है कि केवल समय बिताना पर्याप्त नहीं है, बल्कि कुछ नया समझना और सीखना भी ज़रूरी है। इसी खोज में वह सेवानिवृत्त शिक्षक दीनानाथ काका के पास पहुँचता है, जिनका जीवन-अनुभव, अनुशासन और विवेक कथा को वैचारिक गहराई प्रदान करता है।

दीनानाथ काका और जीवानन्द के बीच का संवाद केवल व्यक्तिगत प्रश्नोत्तर नहीं है, बल्कि यह परिवार, समाज और व्यक्ति के आपसी संबंधों पर एक गंभीर विमर्श बन जाता है। जीवानन्द का यह प्रश्न कि परिवार को अपने नज़रिये से देखा जाए या समाज के नज़रिये से, दरअसल आधुनिक व्यक्ति की उस उलझन को प्रकट करता है जिसमें वह अपनी स्वतंत्रता और सामाजिक अपेक्षाओं के बीच झूलता रहता है। दीनानाथ काका किसी सीधा उत्तर देने के बजाय एक जीवन-सूत्र सामने रखते हैं: "जेहेन आँखि, तेहने पाँखि।" इसका अर्थ है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण ही उसकी उड़ान की दिशा और सीमा तय करता है।

कथा का मूल भाव यह है कि पूर्ण स्वाधीनता कोई स्थिर अवस्था नहीं है, बल्कि दृष्टि और समझ की परिपक्वता के साथ विकसित होने वाली प्रक्रिया है। सोच जितनी संकुचित होगी, संभावनाएँ उतनी सीमित होंगी, और दृष्टि जितनी व्यापक होगी, जीवन की उड़ान उतनी

ही ऊँची होगी। जीवानन्द का भ्रमित होना भी इस सीख का हिस्सा है, क्योंकि यही अस्थिरता आगे चलकर साधना और आत्मबोध का मार्ग बनती है।

संक्षेप में, यह कथा युवा मन के प्रश्नों, बुज़ुर्ग अनुभव की गहराई और जीवन-दर्शन की सहजता को एक साथ जोड़ती है। यह सिखाती है कि जीवन में दिशा किसी बाहरी उपदेश से नहीं, बल्कि अपनी आँखों से देखी गई समझ और दृष्टिकोण से बनती है।

चौठचंद्र का केला: यह कथा मिथिला के दो पड़ोसी गाँवों, श्रीपुर और सौरभपुर की पृष्ठभूमि में मित्रता, परंपरा, स्वास्थ्य-चेतना और बदलती ग्रामीण जीवन-लय को एक साथ समेटती है। चौरचन पर्व से चार दिन पहले श्रीपुर के मकशूदन, जो रेलवे पुलिस से सेवानिवृत्त होकर अब अस्सी वर्ष की उम्र के करीब हैं, वर्षों पुरानी दोस्ती निभाने के लिए सौरभपुर के किसान जीबछ के यहाँ केला लेने पहुँचते हैं। दोनों ने मैट्रिक तक साथ पढ़ाई की थी, लेकिन जीवन की राहें अलग हो जाने के कारण मिलने-जुलने का क्रम टूट गया था। फिर भी पर्व और स्मृतियाँ उन्हें एक बार फिर संवाद के उसी पुराने स्थान पर ला खड़ा करती हैं।

जीबछ का जीवन खेती-बाड़ी, पोखर, मवेशी और पारिवारिक जिम्मेदारियों में गहराई से जुड़ा हुआ है। वहीं, मकशूदन का जीवन नौकरी, शहर-यात्राओं और अब स्वास्थ्य-संयम की जीवन-शैली में ढल चुका है। वह स्पष्ट कहता है कि डॉक्टर की सलाह पर अब केवल शोधित पानी पीता है और चाय भी सीमित मात्रा में लेता है। यह संकेत कथा में एक नए समय-बोध का निर्माण करता है, जहाँ उम्र और अनुभव के साथ आदतें बदलती हैं और सावधानियाँ जीवन का स्थायी हिस्सा बन जाती हैं। दूसरी ओर, जीबछ समय पर काम पूरा करने

और दिनचर्या को एक नियमित क्रम में चलाने की बात करता है, जिससे ग्रामीण श्रम-संस्कृति का अनुशासन और व्यावहारिक बुद्धि उभरकर सामने आती है।

कथा का केंद्रीय प्रसंग केले के घौर चुनने का है। तीनों–मकशूदन, जीबछ और जीबछ का पोता स्वरूपलाल–केरा-कोठरी में घूमते हैं। मकशूदन को एक बड़ा घौर काटने योग्य लगता है, लेकिन वह तुरंत कहता है कि इतना बड़ा घौर कौन खाएगा। वह बताता है कि पिछले तीन वर्षों से वह अपनी बहू के व्रत की पूर्ति के लिए छोटा घौर ही खोजता रहा है। इस प्रसंग के माध्यम से व्रत, बहू, 'कबुला' और पर्व-तैयारी की चर्चा होती है, जिससे घरेलू आस्था और पारिवारिक व्यवस्था का एक सूक्ष्म और आत्मीय चित्र सामने आता है। जीबछ चौरचन में केले की डालियों से सजावट और छठ में घौर चढ़ाने की परंपरा को याद करते हुए इस पूरे दृश्य को सांस्कृतिक अर्थवत्ता प्रदान करता है।

बातचीत के अंत में मकशूदन गर्मी, समय और व्यवस्था का हवाला देकर यह तय करता है कि वह घौर आज ही टेम्पू से ले जाएगा और अगले दिन आने की बात टाल देता है। इस निर्णय से आधुनिक तात्कालिकता और पुराने रिश्तों के बीच की हल्की-सी खिंचाव भरी दूरी झलकती है।

कथा के प्रमुख विचार यह हैं कि ग्रामीण समाज में परंपरा केवल अनुष्ठान नहीं होती, बल्कि संबंधों को जीवित और सक्रिय बनाए रखने का एक अवसर भी होती है। मित्रता समय और दूरी के दबाव में भले ही धुँधला जाए, लेकिन पर्व और साझा स्मृतियाँ उसे पुनः जीवंत कर देती हैं। वृद्धावस्था में स्वास्थ्य-नियम और संयम एक नई जीवन-नीति का रूप ले लेते हैं। और सबसे महत्वपूर्ण, दैनिक श्रम-संयम और सांस्कृतिक कर्मकांड मिलकर मिथिला के सामुदायिक जीवन का एक

निरंतर प्रवाह रचते हैं।

यह कथा किसी बड़े नाटकीय मोड़ पर नहीं पहुँचती, लेकिन अपनी इसी साधारणता में गाँव, उम्र, संबंध और पर्व-जीवन की वास्तविक धड़कन को सजीव रूप से पकड़ लेती है।

- रामेश्वर प्रसाद मण्डल

निर्मली, सुपौल, बिहार

31 जनवरी 2026

लोक लाज

☰

अगहन महीने का पहला पक्ष था, सप्तमी तिथि और नवान का दिन। सुबह आठ बजे सतन काका ने जब आने वाले दिन के कामकाज की ओर नजर डाली, तो उनके मन में निश्चिंतता की लहर दौड़ गई। इसका कारण स्पष्ट था कि आज नवान पर्व है। तड़के चार बजे ही उन्होंने बेटे को देखा था, जो एक पाँज धान काटकर ले आया था।

जैसे जगन्नाथपुरी में होता है, एक ओर खेत से धान आता है और दूसरी ओर उसे ही तैयार कर प्रसाद बनता है, वैसे ही हमारे यहाँ भी नवान के दिन सब कुछ किया जाता है।

सतन काका के मन में भोजन की तृप्ति पहले ही जाग गई और भोजन का जुगाड़ की चिंता उन्हें नहीं रही। उन्होंने आगे नजर डाली, तो देखा कि सब्ज़ीवाली मुस्कराते हुए आँगन से निकल रही है। पान के पत्ते भी दिखाई दे गए, जिससे पान को लेकर भी मन निश्चिंत हो गया। इसी के साथ उनके भीतर यह विचार भी कौंधा कि आज तो पावन का दिन है, खाने-पीने और उल्लास का दिन। ऐसे शुभ दिन अगर कोई खेत-खलिहान या जीवनोपयोगी किसी अन्य काम में निकल जाए, तो यह अनुचित ही लगेगा। समाज में ही सामाजिक मर्यादाओं का पालन के साथ लोक लाज भी है।

इन्हीं विचारों में डूबे सतन काका मन ही मन उलझते चले जा

रहे थे। जीवन के किसी मोड़ या कटाव पर जैसे आदमी को आदमी की ज़रूरत होती है, कुछ वैसा ही द्वंद्व उनके भीतर भी चल रहा था। इसीलिए वे बार-बार रास्ते की ओर नजर उठाकर देखते रहते थे, शायद कोई आता दिख जाए जिससे दो बातें करके अपने मन को थोड़ी तृप्ति मिल सके। लेकिन जब कोई दिखाई नहीं दिया, तो उनका मन और भी बेचैन होता चला गया।

सतन काका के उद्विग्न मन में अचानक एक शांति का भाव उतर आया। शांति मिलते ही उनके भीतर एक विचार उठा कि समाज में जो कुछ भी होता है, वह समाज के लोग अपनी आँखों से ही देखते हैं। मगर चार–छह आना, यानी पच्चीस–तीस प्रतिशत लोग ऐसे भी होते हैं, जिनके माथे पर कोई बोझ नहीं होता और जिनके मन में यह बात गहराई से बैठी होती है कि लोगों की लाज ही समाज की असली धरोहर और संपत्ति है।

इसी बीच संयोग से मंगल भाई नवान पर्व की चीज़ें खरीदने के लिए दुकान जा रहे थे। दुकान के रास्ते में ही सतन काका का घर पड़ता था। मंगल भाई हमेशा से सतन काका को उम्र, अनुभव और बुद्धि तीनों में गुरु मानते आए थे। दरवाज़े पर बैठे सतन काका पर उनकी नजर एक पल को पड़ी भी, लेकिन पर्व के दिन की आपाधापी को देखकर उन्होंने सतन काका की ओर से मुँह मोड़ा और सीधे दुकान की ओर बढ़ते चले गए।

मंगल भाई के मन में यह चिंता उठ रही थी कि आज पर्व का दिन है। बाकी लोग तो कल ही झंझारपुर हाट से सारा सामान खरीद लाए हैं, लेकिन अपने जैसे लोग, जो हाट से कुछ नहीं ला पाए, उन्हें तो गाँव की दुकान से ही सामान लेना होगा। ऐसे में दुकान पर ग्राहकों की भीड़ लगना तय है और वहाँ कितना समय लगेगा, इसका कोई अंदाज़ा नहीं। अगर अभी सतन काका के पास रुक गए, तो देर होना

निश्चित है। और देर हो गई, तो यह भी संभव है कि दुकान में सामान ही न बचा हो।

आखिर गाँव की दुकान है, कब कौन-सी चीज़ मिलेगी और कब खत्म हो जाएगी, इसका कोई भरोसा नहीं। ऊपर से आज पर्व का दिन है, तो आम दिनों की तुलना में लोग ज़्यादा ही चीज़ें खरीदेंगे। अगर लौटते हुए देर हो गई, तो पता नहीं क्या मिलेगा और नवान कैसे निभेगा।

इसी डर से मंगल भाई ने रास्ते पर नजर टिकाए रखी और बिना इधर-उधर देखे तेज़ क़दमों से सीधे दुकान की ओर बढ़ते चले गए।

उधर सतन काका की मनोदशा ऐसी थी, जैसे कोई व्यक्ति तंमाकू से बनी नस्य नाक में लेते ही भीतर चुलचुली महसूस करता है। जब उन्होंने मंगल भाई को रास्ते पर दाहिनी ओर से आते देखा, यानी घर की दिशा से दुकान की ओर जाते हुए, तो मन ही मन सोचा कि चलो, मंगल आ ही रहा है। दोनों मिलकर कहीं बैठेंगे और कुछ बातचीत करेंगे।

हालाँकि जब तक मंगल भाई उनके घर से कुछ पीछे थे, सतन काका बार-बार नजर उठाकर देखते रहे। लेकिन जैसे ही वे घर के सामने पहुँचे, सतन काका ने अपनी आँखें नीचे गड़ा लीं। आँखें झुका लेने का कारण उनके मन में समाज के प्रति–अर्थात गाँव के लोगों के प्रति–उठी लाज थी। आखिर रास्ता तो सार्वजनिक है, और हर तरह के लोग उस पर चलते हैं। ऐसे में उचक्के की तरह बार-बार नजर उठाकर देखने से सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन होता है।

लेकिन जब मंगल भाई उनके घर की अगली सीमा पार करने लगे, तब सतन काका बोल ही पड़े-"मंगल, ऐसे मुँह क्यों छिपाकर जा रहे हो?"

सतन काका की बात सुनकर मंगल भाई ने सोचा कि दोनों एक

ही मिट्टी के, एक ही समाज के लोग हैं। ऐसे में काका ने अगर इतनी चुभने वाली बात कह दी है, तो चुप रहना भी सही नहीं होगा। मगर चुभती बात का उत्तर चुभते हुए लहज़े में देना भी उचित नहीं होता। इसी उधेड़बुन में उनके मन में कबीरदास का विचार जाग उठा- “जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोई तूँ फूल।”

झूठ बोलना भी उन्हें ठीक नहीं लगा। तब एक बीच का रास्ता सूझा, कोई बहाना बना लिया जाए। बहाना गढ़ते हुए मंगल भाई बोले-

"काका, कल तक तो समझ ही नहीं पाया था कि आज नवान पर्व है। किसी तरह की कोई तैयारी नहीं की थी। आज सुबह में जब नींद खुली, तब मेरी पत्नी ने बताया कि आज पर्व है। फिर वह पूछने लगी कि इसकी तैयारी के लिए क्या-क्या किया है। पत्नी की इस जवाबदेह बात सुनकर मन ऐसा उखड़ा कि अभी तक सँभल नहीं पाया हूँ। इसी कारण ध्यान भटक गया था।”

मंगल भाई का बहाना ठीक से बैठ गया। तब सतन काका बोले-

“मंगल, तुम तो बड़े हिसाबी हो। पिछले साल कौन-सा पर्व किस महीने में किस दिन पड़ेगा और उसका क्या महत्त्व है, यह सब तुम्हें ठीक-ठीक याद रहता है। फिर नवान पर्व तुमसे कैसे भूला गया?”

एक के बाद एक, चोट पर चोट सतन काका करते जा रहे थे, और उधर मंगल भाई पहले ही नून-तेल की दुकान पर अपना नंबर लगाकर कतार में खड़े हो चुके थे। तभी अचानक उनके मन में जितिया पर्व की ओटघन जैसी भूख जाग उठी। वे बोले- “काका, अब लोग नवान पर्व करते हैं और मन को जैसे-तैसे मना लेते हैं। जैसे शादी के बाद दुरागमन को मन समझा लेता है, वैसे ही अब यह पर्व भी वैसा ही हो गया है।”

मंगल भाई की यह तिरछी भाषा सतन काका अच्छी तरह समझते थे। लेकिन उनका स्वभाव था कि हँसी-मुस्कान के साथ

अच्छी बातें और अच्छी चीज़ें मिल जाएँ, तो वही सबसे उत्तम होता है। जैसे महाभारत में संयम से भरे किसी श्लोक के बाद आने वाला दृष्टिकूट श्लोक भी एक विशेष अर्थ लेकर आता है, वैसे ही सतन काका ने मुस्कराते हुए अपना दृष्टिकूट फेंका- “ज़रा साफ़-साफ़ बोलो, मंगल।”

दोनों ही एक ही धरातल के लोग थे सतन काका और मंगल भाई, जिन्होंने अपनी उम्र और अपनी हैसियत, यानी सामाजिक वंशानुगत सीढ़ी को भी चौमास के खेत की तरह तैयार कर लिया था।

मुस्कराते हुए मंगल भाई बोले- "काका, आपके सामने ही तो गाँव है, और गाँव के किसान भी तो मौजूद हैं।"

“आपके सामने गाँव के किसान,” यह सुनकर सतन काका समर्थन में सिर हिलाते हुए बोले- “हाँ, वे तो हैं ही।”

अपने विचार का समर्थन मिलते ही, और श्रोता को अपने पक्ष में पाकर, मंगल भाई आगे बोले- "काका, सब जानते हैं कि 1971 ईस्वी से पहले के किसान साल में दो तरह के धान उपजाते थे। बरसाती धान के साथ-साथ भदई भी होती थी, लेकिन वह तो ऐसे चुपचाप रहती थी, जैसे घोंघे के नीचे फूल-फल पककर तैयार हो जाए। जो था, सो था...।"

बीच में टोका लगाते हुए सतन काका बोले- "गम्हरी को लोग क्या मानते थे?"

मंगल भाई की सोच की जड़ वहीं पकड़ में आ गई। वे बोले-

“यही तो कह रहा हूँ, काका। भदई किस्म का जो धान होता था, उसे अशुद्ध माना जाता था। उसमें गम्हरी भी शामिल थी, कुछ शुद्ध, कुछ अशुद्ध। जैसे लोग कहते हैं न, ‘ठहर जाए तो जगह पाकर पका रहे, नहीं तो पकते-पकते गिर भी जाए।’”

मंगल भाई की बौद्धिक अस्थिरता को परखने के इरादे से सतन

काका ने पूछा- "तो फिर क्या शुद्ध है और क्या अशुद्ध?"

मुस्कराते हुए मंगल भाई बोले-

"काका, जैसे समाज में कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो कमाते तो इसी आपकी कमाई भी खाते हैं और आपको ही अपवित्र तथा अछूत भी कहते हैं।"

जैसे बहते पानी की धारा में आदमी बह जाता है, वैसे ही विचारों की धारा में भी वह बहता चला जाता है। ठीक वैसे ही जब मंगल भाई को बहते देखा, तो सतन काका बोले- "ऐसे भँवर की तरह क्यों भटक रहे हो, मंगल?"

जैसे बरसात के दिनों में बादलों की कड़क सुनकर कोई अचानक हाथ उठाकर सिर ढक लेता है, वैसे ही चौंकते हुए मंगल भाई बोले-

"काका, भदई धान पर्व में वर्जित था!"

सतन काका को जैसे खलिहान के बीच अचानक कोई बीज मिल गया हो, उसी उत्साह से बोले-

"मंगल, जितिया पर्व में तो लोग मछली और मड़ुआ की रोटी का पर्व करते हैं।"

बिना लक्ष्य छोड़े गए तीर की तरह मंगल भाई बोले-

"काका, मड़ुआ अब श्रीअन्न बन चुका है, यह आपको पता नहीं?"

सतन काका ने पूछा- "तो क्या मछली-साग भी श्रीअन्न हो गया, या बस मड़ुआ ही?"

मंगल भाई ने कहा- "काका, पिछले विचार में एक बात छूट गई थी, पहले वही कह देता हूँ।"

सतन काका मन ही मन अंदाज़ लगाने लगे कि मंगल से कौन-

सी बात छूट गई थी, लेकिन उन्हें कुछ याद नहीं आ रहा था। तभी मंगल भाई ने अपनी बात दोहराई- "काका, हमारे यहाँ जब 'जय जवान, जय किसान' की आवाज़ आसमान में गूँजी, तभी खेत की सारी उपज के लिए रास्ते खुल गए। तरह-तरह के उन्नत अन्नों के बीज और फल-फूलों के पौधे गाँव-घर तक पहुँचने लगे। नतीजा यह हुआ कि भादो महीने से लेकर पूस-माघ तक–यानी अगस्त से जनवरी-फरवरी तक–नीचरस खेतों में भी धान होने लगा। ऐसे में नवान का महत्व ही क्या रह गया?"

मंगल भाई की बात सुनकर सतन काका कुछ देर के लिए चुप हो गए। लेकिन नवान पर्व की जो हलहोर, जो उमंग उनके मन में थी, वही कहीं न कहीं मंगल भाई के भीतर भी बना हुआ था। दोनों को एक साथ समेटते हुए सतन काका ने पूछा- "मंगल, नवान की क्या-क्या तैयारी कर रहे हो?"

मंगल भाई बोले- "काका, लोक लाज के कारण जैसे-तैसे निभा रहा हूँ।"

'लोक लाज' शब्द सुनते ही सतन काका भीतर से चौंक उठे। उनके मन में सवाल उठा, मंगल आखिर किसे लोक लाज मान रहा है? मगर यह तो तभी स्पष्ट होगा, जब वह खुद बताएगा। इसलिए सतन काका ने पूछा-

"मंगल, यह लोक लाज क्या है?"

सतन काका लोक लाज को लोक जीवन की बुनियादी वृत्ति मानते थे। उनका विश्वास था कि जब मनुष्य के भीतर दुनिया के प्रति श्रद्धा जागती है, तब उसके हृदय में संवेदनशीलता भी जन्म लेती है, और वहीं से लोक लाज का उद्भव होता है। लेकिन अपने विचारों को मन में ही समेटकर, वे एक जिज्ञासु की तरह मंगल भाई की ओर देखने लगे, पूरी सजगता से।

दोनों एक ही धरातल के लोग थे–सतन काका और मंगल भाई– इसलिए वे एक-दूसरे की आँखों में आँखें डालकर बात कर रहे थे। तभी मंगल भाई बोले- "काका, क्या कहूँ! आजकल बुज़ुर्गों की बेबुनियादी बातों के बीच में लोक लाज खो-सी गई है। वह यूँ ही अपने बल पर कहाँ टिकी रहती है, इसलिए तो...।"

मंगल भाई की बात सुनकर सतन काका ने गंभीरता से कहा-

"मंगल, दुनिया को समझने के लिए उसे देखना पड़ता है। मगर अपना खुद का हाल तो आदमी बिना देखे भी जान सकता है।"

सतन काका के इस विचार के भँवर में मंगल भाई डगमगा गए। जैसे खिखिर के भँवर में सियार अपनी जान गँवा देता है, वैसे ही उनके मन की हालत हो गई। वे बोले- "काका, क्या कहूँ! हर घर की लीला देख रहा हूँ, जो काम करने वाले हैं, उन्हीं पर बिना काम करने वालों का हुक्म चल रहा है। ऐसे में आप-हम जैसे लोगों का बिना वजह तड़पना ही क्या है!"

मंगल भाई की बात सुनकर सतन काका फागुन महीने की उस ठंड की तरह हो गए, जो कार्तिक-अगहन की ओस से बनकर माघ की पाला बन जाती है और फिर पूरे मौसम को ठंडा कर देती है। उसी तरह मंगल भाई का मन भी धीरे-धीरे ठंडा पड़ गया। उन्होंने कहा-

"काका, पावन के लिए पत्नी की एक ढकिया-सी माँग है। इसलिए मन चाहे जितना जीवन में कुछ और करना चाहे, वह हो नहीं पाता। और अगर यह भी न निभाया जाए, तो लोग पीठ पीछे ताने देने लगते हैं।"

जैसे गरुड़ और नाग के बीच कभी ज्ञान का समझौता नहीं हो पाता, वैसे ही सतन काका और मंगल भाई के विचार भी आपस में नहीं मिल पा रहे थे। फिर भी ऐसा नहीं था कि सतन काका के मन में कोई गलत भावना थी या मंगल भाई के भीतर कोई कपट। इसलिए

यह कहना भी सही नहीं होगा कि उनके बीच कोई वैचारिक दुश्मनी थी। विचार तो साथ चलते हैं, गहराई तक, और वहीं से दूरी भी बनती है।

मंगल भाई की सोच को सँवारने के इरादे से सतन काका बोले-

"मंगल, औरतों के बिना मतलब के झगड़ों में पड़कर क्या जीवन पा सकते हो?"

यह बात मंगल भाई को कुछ इस तरह चुभी, जैसे किसी दृष्टिकूट का अर्थ अचानक खुल जाए और आदमी भकुआ कर रह जाए। वे बोले-

"काका, ज़रा साफ़-साफ़ कहिए।"

सतन काका बोले- "आज पावन का दिन है, खाने, पीने और आनंद करने का दिन। इसलिए न तुम्हें अभी रोकूँगा, न खुद ही रुकूँगा। उधर तुम्हारी पत्नी भले ही दाँत पीसती बैठी हो, लेकिन तुम्हें देखकर मुँह चुप रखना भी ठीक नहीं होता।"

सहमति जताते हुए मंगल भाई बोले- "यह भी ठीक है।"

तब सतन काका ने बात को समेटते हुए कहा-

"अभी इतना ही समझ लो कि भावलोक में चौदह लोक होते हैं, और उन्हीं के बीच लाज भी बसती है।" ❑

धान का कमठौन

☰

दूसरे दिनों की तरह ही, उस दिन भी विश्वनाथ बाबा लताम के बगान में टहलते हुए चारों ओर नजर डाल रहे थे। तभी आँगन से उनका दस साल का पोता सुधीर मोबाइल लेकर बाड़ी में आ पहुँचा। विश्वनाथ बाबा अकेले रहने वाले व्यक्ति थे और इसी कारण वे एकाकी और अंतर्मुखी स्वभाव के थे।

अपने अकेलेपन की वजह से वे अक्सर आसपास के माहौल से अलग-थलग दिखाई देते थे। खासकर मोबाइल को लेकर उनकी सोच बहुत स्पष्ट थी। वे मानते थे कि जैसे पूजा के समय एक हाथ में अर्घ्य का जल भरा होता है, वैसे ही आजकल हर समय मोबाइल भी आदमी के एक हाथ में जकड़ा रहता है। अब यह बोझ कौन ढो रहा है और कौन उसे ढोने में सुख पा रहा है, यह तो वही जान सकता है जिसे यह प्रिय है। मोबाइल प्रेमी ही इसका सुख-दुख समझ सकते हैं।

लेकिन विश्वनाथ बाबा, अपने अंतर्मुखी स्वभाव के कारण, इस विचार को मन में कसकर बाँधकर रखते थे कि जितना-सा जीवन मिला है, उसी के भीतर खुद को समेटकर रखना चाहिए। जब ऐसा किया जाता है, तभी जीवन का तालमेल जीवन से बैठता है और वह सहजता से आगे बढ़ता है। वरना हालत वैसी हो जाती है जैसे बगुले की चाल पकड़कर खंजन बाँस की बीट उखाड़ने लगे, न गति सधे, न

काम बने।

थोड़ा झिझकते हुए सुधीर बोला- "बाबा, फोन आया है।"

विश्वनाथ बाबा का मन घोरमट्ठा हो गया। इसका कारण स्पष्ट था। उन्होंने सात लताम के पेड़ लगा रखे थे, लेकिन सातों पेड़ों के फल एक जैसे नहीं होते। इतना ही नहीं, कोई भी पेड़ ऐसा नहीं था जिसमें साल भर, बारहों महीने किसी न किसी पेड़ में फल लटकते न हो। वे इन बातों को गहराई से समझते थे, और जो बातें नहीं समझते, उन्हें खुद समझने की कोशिश करते, और अक्सर समझ भी जाते थे। इसलिए वे दिल से मानते थे कि मिथिलांचल के लताम, कश्मीर के सेब से कई गुना बेहतर होता है।

इसी कारण, बारहों महीने का फल-भोजन विश्वनाथ बाबा ने अपने ही हाथों, अपनी ही बाड़ी में उगा रखा था।

इस समय लताम के फलों की हालत देखकर उनके मन में गहरी खिन्नता भर आई थी। साल भर की मेहनत का फल नष्ट होता जा रहा था। सारे पेड़ रोग से ग्रस्त थे। इसी कारण उनका मन भारी हो गया था।

वैसे तो अपनी जीवन-दशा को लेकर भी भीतर क्रोध उमड़ने लगा था, लेकिन उसी क्षण उन्होंने अपने मन को रोक लिया, जैसे एक दिशा दूसरी दिशा को थाम लेती है। मानो जैसे पाप धर्म को रोकता है, वैसे ही धर्म भी पाप को रोकता है। ज्ञान अज्ञान को रोकता है और अज्ञान भी ज्ञान को। यही द्वंद्व की लीला चौबीसों घंटे चलती रहती है।

जैसे चौबीस घंटे में बारह घंटे दिन होता है और बारह घंटे रात, यह सब मानते हैं। लेकिन ज़रा अपने विचार से देखिए, तो साल भर के दिन-रात का हिसाब पूरी तरह आधा-आधा नहीं बैठता। महीनों और दिनों के बँटवारे में कहीं न कहीं अंतर रह ही जाता है। हाँ, 22 मार्च और 22 सितंबर को यह असंतुलन नहीं होता। फिर भी, जेठ

महीने में दिन बढ़ते हैं और रातें घटती हैं, यह सही है, लेकिन यह कहना भी ठीक नहीं कि पूस-माघ में रातें बढ़ती नहीं और दिन घटते नहीं।

खैर, इन बातों से विश्वनाथ बाबा को क्या लेना-देना। उनके लिए बस यही बात मायने रखती थी कि जो अपने हाथों किया गया है वही अपना है, दूसरों के हाथों किया गया, क्या वह भी अपना है? अपना ही अपना है।

मन को स्थिर करते हुए विश्वनाथ बाबा बोले- "लाओ, लाओ, किसका फोन है?"

सुधीर उस वक़्त समझने लायक नहीं था। वह बोला- "जैसे ही घंटी बजी, वैसे ही उठाकर आपके पास ले आया हूँ।"

पोते की बात पर विश्वनाथ बाबा को पूरा भरोसा था। भरोसा क्यों न हो! हाँ, आप यह कह सकते हैं कि आजकल के लड़के-लड़कियाँ ज़बान से बहुत चालाक हो गए हैं और झूठ भी ज़्यादा बोलने लगे हैं। यह आपका विचार हो सकता है और उस पर हम कोई दख़ल नहीं देंगे। आखिर हम लोग कुछ देख ही रहे हैं और पूछ-परख कर ही भरोसा बनाते आए हैं।

शिखर, पराग और गुटखा बच्चे खाते रहते हैं और उनके मुँहों से ऐसा शोर मच-मचकर गवाही भी देता है, फिर भी वे किसी भी कीमत पर यह मानने को तैयार नहीं होते कि उन्होंने गुटखा खाया है।

लेकिन विश्वनाथ बाबा के साथ ऐसा नहीं था। पोते पर उनका विश्वास इतना अटल था कि वे यह मानते थे कि सुधीर दूसरे बच्चों की तरह झूठ नहीं बोलता। वैसे भी, बात केवल एक दिन के सच-झूठ की नहीं होती। झूठ तो खुजली या दाद की तरह होता है, पहले एक छोटा-सा फोड़ा निकलता है और फिर धीरे-धीरे फैलकर पूरे शरीर में फैल जाता है।

पर सुधीर के मामले में विश्वनाथ बाबा को ऐसा कोई डर नहीं था। उन्होंने बचपन से ही सुधीर को अपनी निगाह में बाँधकर रखा था। आखिर वह किसान परिवार का बच्चा था। जैसे स्कूल में शिक्षक अक्षर-ज्ञान के साथ अंक-ज्ञान विद्यार्थी के दिमाग़ में रोपता है, वैसे ही किसान परिवार के अभिभावक अपने बच्चे के मन में किसानी जीवन शिरोधार्य करते हैं।

भले ही सभी ऐसा न करें। सरकारी नौकरी के मोह में पटवारी से लेकर दफ़्तरी संस्कार तक बच्चे के सिर में बैठा दिए जाते हैं। मगर यहाँ तो केवल किसान परिवार की जीवन-गाथा कही जा रही है।

बिना कुछ कहे, विश्वनाथ बाबा ने सुधीर के हाथ से मोबाइल लिया, कॉल रिसीव की और उसे कान से लगा लिया। उधर से आवाज़ आई-

"आप विश्वनाथ बाबू बोल रहे हैं?"

विश्वनाथ बाबा ने उत्तर दिया-

"हाँ, बोल रहा हूँ। आप कौन?"

उधर से जवाब आया,

"मैं लक्ष्मीपति विद्यालय का प्रिंसिपल बोल रहा हूँ।"

हालाँकि 'प्रिंसिपल' शब्द सुनते ही विश्वनाथ बाबा एक पल के लिए चौंक पड़े, लेकिन जैसे ही उन्होंने आँख उठाकर चारों ओर नज़र दौड़ाई, तो अपने मन को समझा लिया। जिस तरह गायक, नृतक, खिलाड़ी और धावकों की बाढ़ आ गई है, उसी तरह अब प्राचार्यों की भी भरमार हो गई है।

उन्हें अपना समय याद आ गया, जब गिने-चुने कॉलेजों में ही प्रिंसिपल हुआ करते थे और बाकी जगह इंचार्ज या विभागाध्यक्ष होते थे। अब तो नर्सरी स्कूल से लेकर कॉलेज तक, हर जगह प्रिंसिपल ही

प्रिंसिपल हैं।

मन को समझाकर विश्वनाथ बाबा इस नतीजे पर पहुँचे कि उधर से सचमुच लक्ष्मीपति विद्यालय के प्रिंसिपल ही बोल रहे हैं। उन्होंने पूछा-

"आपका क्या आदेश है?"

प्रिंसिपल साहब बोले-

"कल हमारे विद्यालय में क्रिकेट का फाइनल मैच है। समिति ने निर्णय लिया है कि पुरस्कार वितरण आपके हाथों से कराया जाए, यही हमारा विनम्र आग्रह है।"

सावन महीने में जब धूप धधक रही हो और उसी बीच पूरब की दिशा से कोई छोटा-सा बादल उठकर धीरे-धीरे फैलता हुआ पूरे आकाश को ढँक ले, फिर अचानक आँधी-तूफ़ान और बिजली-गड़गड़ाहट शुरू हो जाए, कुछ वैसी ही उथल-पुथल विश्वनाथ बाबा के मन में होने लगी।

उन्हें याद आया कि एक समय था जब लोग दिन भर ताश खेलने के पीछे बेहाल रहते थे। आज भी कहीं-कहीं यह चलन बाकी है। यह कहना ज़रूरी नहीं कि ताश का फ्लश खेल केवल एक खेल था या जुए की बाज़ी। आज के समय में ताश खेलने वालों से ज़्यादा लोग इसके विरोधी और गालियाँ देने वाले हो गए हैं, और इसी कारण ताश की हालत अब मरनासन्न हो चुकी है।

इसका यह अर्थ भी नहीं है कि पहले जिन तीर्थस्थानों का व्यापक सम्मान था, वे अब केवल पर्व-त्योहारों के अवसरों तक सिमटकर रह गए हैं।

जैसे अचानक कड़कती बिजली की आवाज़ सुनकर किसी के हाथ अनायास ही सिर पर उठ जाते हैं और मुँह से ‘साहोर-साहोर’

निकल पड़ता है, वैसे ही कुछ भाव विश्वनाथ बाबा के मन में भी उठे। एकाएक उन्हें अपने ममेरे भाई की याद आ गई। और मुँह से स्वतः निकल पड़ा-

"वाह रे माँ का लाल!"

हालाँकि यह "वाह रे माँ का लाल" उनके मुँह से यूँ ही फूट पड़ा था, लेकिन सुनने वालों के मन में जिज्ञासा उठनी स्वाभाविक थी, आखिर यह माँ का लाल कौन?

विश्वनाथ बाबा का ननिहाल एक ऐसे गाँव में था जो पूरब से कोसी और पश्चिम से कमला नदी के पेट में बसा था। पाँच सौ घरों का गाँव, बारह सौ बीघा ज़मीन में फैला हुआ। गाँव में स्कूल या कॉलेज का तो कोई नामोनिशान नहीं था, इसलिए साल के छह महीने बाकी गाँवों से भी संबंध लगभग कटे ही रहते थे। यही था गाँव हिम्मतपुर, जहाँ विश्वनाथ बाबा का ननिहाल था।

विश्वनाथ बाबा के तीन ममेरे भाई थे और तीनों के पास मिलाकर दस बीघा ज़मीन भी थी। पढ़ाई-लिखाई का चलन वहाँ बस नाम का था। अधिकांश लोग खेती करते थे और भैंसें पालते थे। उनके ममेरे भाइयों ने खेती और पशुपालन को अपने जीवन की गरिमा, अपने खानदान की इज़्ज़त मानकर स्वीकार किया था। वहाँ यह सोच नहीं थी कि सैकड़ों बीघा ज़मीन के मालिक लोग भीख माँगकर ज़िंदगी काटें और अपनी पुश्तैनी संपत्ति को मज़ाक बना दें।

खैर, इन बातों से विश्वनाथ बाबा का कोई सीधा सरोकार नहीं था। उनका संबंध तो बस अपने ममेरे भाइयों के साहस और जुझारूपन से था। उन्हें याद आया कि साल-दर-साल वे अपने खेतों में धान की रोपाई करते रहे, धान दहाते रहे, सात-सात बार रोपे गए खेतों को फिर से रोपते रहे, लेकिन कभी हिम्मत नहीं हारी।

दूसरे गाँवों के खेत जहाँ साल में तीन-तीन बार उपज देने लगे

थे, वहीं हिम्मतपुर के खेत छह-छह, आठ-आठ महीने पानी में डूबे रहते थे। ऐसी दशा में वहाँ की ज़मीन मिथिला की नारी अहिल्या की तरह, लाज में पत्थर सी, कठोर हो चुकी थी। यही था हिम्मतपुर।

विश्वनाथ बाबा ने फोन पर कहा-

"बोलते समय हड़बड़ी क्यों हो रही है? बोलिए-बोलिए। जो आदेश होगा, उसे निभाने की कोशिश करूँगा।"

विश्वनाथ बाबा के विचारों की संगति रंगलाल बाबू–यानी प्रिंसिपल साहब–को समझ में आई या नहीं, यह तो वही जानें। लेकिन बाबा के मन में यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो चुकी थी कि जो कुछ वे कर रहे हैं, वह बालहित में ही है।

वे जानते थे कि अपने मन का विश्वास ही आदमी को दूसरों की नज़र में विश्वसनीय बनाता है।

रंगलाल बाबू बोले-

"कल हमारे विद्यालय में खेलकूद के समापन के अवसर पर एक सभा आयोजित की जा रही है। समिति की यही इच्छा है कि पुरस्कार वितरण विश्वनाथ बाबू के हाथों कराया जाए।"

यह बात सुनते ही विश्वनाथ बाबा के भीतर अपने ही विचारों की आग भड़क उठी। यह आग इस सोच से उपजी थी कि जब धरती बाल-धन से समृद्ध होगी, तभी भविष्य 'धन' के मर्म को समझेगा और ज्ञान-धन के लिए स्वयं को समर्पित करेगा।

लेकिन जहाँ खेल-धन के पीछे वातावरण विकराल रूप लेता जा रहा हो, वहाँ खुद को रोक लेना ही शायद अधिक समयोचित होता है। दुनिया में भले ही खेल का उन्माद फैल रहा हो, पर उसी के बीच अपने विवेक और विचार को जागृत रखना भी उतना ही आवश्यक है।

एकाएक विश्वनाथ बाबा का मन दृढ़ निश्चय पर पहुँच गया। अब तक जो जीवन वे जीते आए थे, वह एक निश्चित दिशा की ओर अग्रसर था। ऐसे में कमला और कोसी की बाढ़ में बह जाना कितना उचित है? उनके भीतर विचारों की एक दृढ़ दीवार खड़ी हो गई।

रंगलाल बाबू को उत्तर देते हुए उन्होंने शांत स्वर में कहा-

"मैं अपने आपको उस पुरस्कार वितरण अवसर का पात्र नहीं मानता। इसलिए मेरी उपस्थिति नहीं रहेगी।"

अपने मन की बात को भली-भाँति समझते हुए ही विश्वनाथ बाबा ने ऐसा कहा था, क्योंकि उन्हें स्पष्ट दिख रहा था कि आज का परिवेश टकराव की स्थिति जैसा बन गया है। जिस बच्चे को धन-धान्य से भरपूर बनाया जा सकता है, उसे खेल-धन के पीछे पागल किया जा रहा है। ऐसे में व्यक्ति अपनी ही समझ और स्तर पर आत्मरक्षा करेगा ही।

आखिर मनुष्य कोई भेड़-बकरियों का झुंड तो नहीं, जो सीधे देखा-देखी करते हुए गहरी खई में गिर जाए।

रंगलाल बाबू बोले-

"बहुत आशा थी, लेकिन...।"

कुछ कठोर स्वर में विश्वनाथ बाबा ने उत्तर दिया-

"आशा-निराशा कुछ नहीं। होटल की प्रेमिका की आशा उतनी ही देर रहती है, जितनी देर आदमी होटल में होता है। बाहर निकलते ही वही प्रेमिका धक्का देकर किनारे कर देती है। इसलिए ऐसी फूस की आशा का कोई मोल नहीं। उससे तो बेहतर है कि बुढ़ापे से पहले ही बूढ़ा मान लिया जाए और सड़क किनारे किसी नाली में गिरकर बाप-बाप किया जाए।"

रंगलाल बाबू बोले- "तो दी जाय, यही बात न?"

हँसते हुए विश्वनाथ बाबा बोले-

"पूरी तरह छोड़ दी जाए। आदमी अपनी करनी से ही जीवन की माला गूँथता है। आप जानते हैं, मैं किसान हूँ। धान का कमठौन पीछे छूट रहा है। मेरे लिए वही असली धन है, जिससे धन-धान्य उपजता है।"

इसी बीच दस वर्षीय सुधीर आग्रह करते हुए बोला-

"बाबा, मजदूरों को बुलाकर कमठौन करवा लेते हैं। चलिए न, मैं भी आपके साथ चलूँगा।"

पोते की बात सुनकर विश्वनाथ बाबा ने मुस्कराकर कहा-

"पौत्र, मनुष्य तभी सचमुच धन्य होता है, जब वह धन को सही अर्थ में 'धन' समझना सीख जाता है।" ❑

एक चुटकी खुशी

☰

अब तक, यानी पचास वर्ष की उम्र बीत जाने के बाद भी, महादेव भाई ने यह नहीं समझ पाया कि ज़िंदगी में एक चुटकी खुशी आखिर आती कैसे है।

भाई, यह दुनिया है। दुनिया चित्रों से भरी हुई है, विचित्र से भी और सुचित्र से भी। एक लक्ष्मी 'सुलक्ष्मी' भी होती है और 'कुलक्ष्मी' भी, यह बात भी तो कही जाती है। दूसरों की बात चाहे न समझ में आए, लेकिन अपनी बात तो इतनी समझ में आती ही है कि जो हल्दी विषनाशक होती है, उसी हल्दी के पौधे की जड़ में कभी-कभी हल्दी की गाँठ के साथ विष का फल भी लग जाता है, यह बात पूरी तरह झूठ नहीं हो सकती।

एक ही पुरुष या एक ही स्त्री को देख लीजिए, एक ही दिन में वह कितने रूप धारण कर लेता है। ऐसे में यदि यह कहा जाए कि हम एकतरफ़ा हैं, तो यह कैसे सही हो सकता है? यह भी तो सभी जानते हैं कि हमारे शरीर में अरबों-खरबों न्यूरॉन होते हैं, और हर एक न्यूरॉन अपने-आप में शक्तिशाली होता है। उन्होंने कहा-

"को बड़ छोट कहत अपराधू; सुनि गुन भेदु समुझि हहि साधू। यह तुलसी बाबा कहकर उन्होंने भी पीठ दिखा दी।"

और फिर जीवन की विडंबना पर उँगली रखते हुए कहा- "खेती

न किसान को; भिखारी को न भीख भेंटै, श्रमिक को श्रम नहीं, चाकर को न चाकरी। नौकर को नौकरी नहीं। रोज़ी से वंचित लोग एक-दूसरे से पूछते हैं, भाई, अब कहाँ जाएँ, क्या करें?"

खैर, यह तो तुलसी बाबा की बात है। लेकिन जिनके शरीर पर साल भर एक लंगोटी भी नसीब नहीं होती, अगर वे भी व्यथित हैं, तो यह देखना पड़ेगा कि इसका मूल कारण क्या है। यह भी समझना होगा कि जब मानव शरीर में इतनी सूक्ष्म ऊर्जा भरी होती है, तो वह उतनी ही तीव्र और मारक भी हो सकती है।

हमलोग यह जानते और मानते हैं कि कोई छेनी-हथौड़ी से पहाड़ तोड़ता है और कोई उन टूटे हुए पत्थरों को उठाकर भाग जाता है। यही तो दुनिया का खेल है, जो वही लोग कहते हैं, “उजड़ा भाँटा नहीं खाना चाहिए,” लेकिन स्वयं भरपेट खाते हैं। जो जैसा है, वह सबके बीच ही मौजूद है।

अब अपनी ही बात सुनिए। हर साल, कार्तिक महीने में हनुमानजी के मंदिर पर पंद्रह दिनों तक भागवत कथा होती है। उसमें हम पंडितजी के पक्के भक्त हैं। वे भी हमें पहचानते हैं और हम भी उन्हें। इतना तो होता ही है कि जब तक हम पंडितजी के लिए तंबाकू चुनते रहते हैं, तब तक हम दाता बनकर उनके भक्त बने रहते हैं। क्या पंडितजी को तंबाकू की तृष्णा नहीं जागती? ज़रूर जागती है, इसी कारण वे भिखारी बनकर भीख माँगते हैं।

खैर, पंडितजी की चर्चा छोड़िए। भागवत कथा तो है ही, "हरि अनंत, हरि कथा अनंता"। आज भी यदि एक-एक मनुष्य के जीवन-वृत्त की कथा सुनने बैठें, तो सात अरब कथाएँ सहज ही खड़ी हो जाएँगी। अब सोचिए, क्या कोई ऐसा दिन होगा, जिसमें कोई नया वृत्तांत न हो? नहीं, हर दिन एक नई कथा लेकर आता है। दुनिया है, तरह-तरह के फल-फूल खिलते रहते हैं, और लोगों की चाल-ढाल भी

बदलती रहती है।

यह स्पष्ट है कि जहाँ खेत-खलिहान को जीवन का आधार मानते हुए उसकी जीवनी-शक्ति पर विचार करना ज़रूरी था, वहाँ लोगों ने राम-भजन के सिवा और कुछ सोचने की ज़रूरत ही नहीं समझी।

स्वतंत्रता आंदोलन से पहले, यानी 1947 से पूर्व, जब तक राजा-महाराजाओं और बड़े-छोटे ज़मींदारों के हाथों में खेत-खलिहान थे, तब तक हमारे यहाँ का किसानी जीवन लगभग मरनासन्न था। एक ओर प्रकृति की विपत्तियाँ–बाढ़ और सूखा–हर साल धक्के मारती थीं, और दूसरी ओर विदेशी शासन में कोई सुविधा उपलब्ध नहीं थी, ऐसे में गाँव-समाज की स्थिति कैसी रही होगी, यह मन ही मन समझ लेना चाहिए। उस जीवन की छाया आज भी कहीं न कहीं जीवित है।

खैर, इन सब बातों से अब हमारा सीधा क्या लेना-देना। भागवत कथा तो चलती ही रहती है, लेकिन एक विचार आज भी भीतर कहीं कचोटता है, कि अगर अपने बल पर किसी का उपकार न कर सकें, तो कम से कम अपकार भी न करें। इतना तो निश्चित है कि समाज में हर कोई इस बात को मानता और समझता है, भले ही ज़ुबान से न कहे।

लेकिन जाति और धर्म के फंदे ऐसे कस गए हैं कि लोगों के बीच मेल-मिलाप की गुंजाइश ही नहीं रह गई है। रोज़ देखते हैं, एक ही परिवार में तीन बच्चे हैं और तीनों को तीन अलग-अलग स्कूलों में पढ़ाया जा रहा है। स्कूल में रहते तक तो बात ठीक रहती है, लेकिन घर लौटते ही कटुता शुरू हो जाती है। यही कटुता अब घर-घर अपनी जड़ें जमाती जा रही है।

बेशक, कई लोग हमें मित्र कहते हैं, लेकिन ऐसे मित्रों को हमने मन से हटा दिया है। बेवजह की खींचतान और राँड़-बेटखौकी करते

रहने से समाज को आखिर क्या मिलने वाला है? जैसे दुर्गापूजा के समय गाँव-गाँव के दस द्वारें भी खुल जाते हैं, वैसे ही समाज में भी हर किसी के लिए रास्ता खुला है। हम मुँह खोलकर सबको कहते हैं-

"भाई, न तो मैं तुम्हारी कमाई लूँगा, न तुम मेरी कमाई लेना। इंसान हो, तो इंसान की तरह रहो, सबके साथ मेल-जोल रखो, तभी समाज में मेल बना रहेगा।"

लेकिन केवल एक को सोच लेने से ही थोड़ी न सब कुछ हो जाता है। हर किसी का अपना मन है, अपना विचार है। तब तो यही बात हुई, "अपना भला, तो दुनिया भली।"

कहता हूँ कि गाँव में सबके साथ मेल रखा हूँ। गाँव के लोग भी सोचते-विचारते हैं कि जाति-धर्म के झमेलों में पड़कर गाली-गलौज और मारपीट करने से क्या लाभ? जैसे हर कोई अपने मन का मालिक है, वैसे मैं भी हूँ।

अब आप ही बताइए, कोई जाति या संप्रदाय का आदमी अगर इस वजह से विवाह न कर पाया कि उसे 'बारात' नहीं मिली, और उसने समाज के बीच ही बारात पूरने जाने के कारण एक नया परिवार बना लिया, तो क्या वह गलत हो गया?

आप कहेंगे कि सब लोग अपने ही जाति के अन्न-पानी खाते-पीते हैं और उसका कोई अन्य जाति से मतलब नहीं होता। यह बात आप अपने मन में कहते रहिए। लेकिन हम आपसे पूछते हैं, समाज में रहते हुए क्या हम समाज का हिस्सा नहीं हैं? ऐसे में अगर किसी मृत शरीर को ठिकाना न देकर कौओं और कुत्तों से नोचवाया जाए, तो क्या यह उचित है? क्या यह बेहतर नहीं होगा कि उस शरीर को आग में जलाया जाए, मिट्टी में गाड़ा जाए या गंगा-कोसी की धारा में प्रवाहित कर दिया जाए? क्या उसे अंतिम सम्मान देना समाज के हित में है या अहित में?

इन्हीं कामों के कारण कोई हमें 'एकार बानर' कहता है, तो कोई 'समाज-विरोधी'। सब अपने-अपने मन में कुछ न कुछ सोचते हैं। लेकिन अगर हम खुद अपने विचारों को व्यवहार में नहीं उतारेंगे, तो अपने ही मन पर विश्वास कैसे रख पाएँगे?

जो होना है, वह होता रहेगा। जैसे आपके सामने भूतकाल से वर्तमान होते हुए भविष्य तक का विस्तार है, वैसे ही मेरा जीवन भी उसी प्रवाह में आगे बढ़ रहा है।

बात बाढ़ की है। पिछले सात दिनों से गाँव पूरी तरह से पानी में डूबा हुआ है। खेती-बाड़ी के सारे काम रुक गए हैं। गायों के लिए जो घास जमा की थी, वह भी पानी में गल चुकी है। सौभाग्य से गेहूँ की भूसी और पशुओं के लिए दाने के दो बोरे बच गए, जिससे दोनों गायों की चिंता कुछ हद तक कम हो गई।

अब यदि कोई कहे कि हरे चारे की कमी से दूध की मात्रा और गुणवत्ता दोनों कम हो जाएँगी, तो आप ही बताइए, इस परिस्थिति में दूध की गुणवत्ता का हिसाब रखा जाए या पहले पशु की जान बचाई जाए?

सुबह चाय पीकर निकले। वैसे बाढ़ आने के बाद से सुबह का नाश्ता छोड़ दिया गया है। इसके कई कारण हैं, जिनकी चर्चा अभी आवश्यक नहीं। बस इतना कि चाय पी, तंबाकू खाया और एक चारहत्थी लाठी हाथ में लेकर महादेव भाई के यहाँ चल दिया।

अब आप कहेंगे कि जब रास्ते में ढाई-तीन फीट पानी बह रहा है तो यह चारहत्थी लाठी क्यों? लेकिन यह भी समझना होगा कि इंसान की अपने ही हाथ से, चाहे वह मर्द हो या औरत, इंसान की औसत लंबाई साढ़े तीन हाथ मानी जाती है। भले ही किसी के हाथ पाँच हों या ढाई ही क्यों न हों, देह की एक सीमा होती है। यह भी देखा जाता है कि साढ़े तीन हाथ का आदमी छह हाथ की चादर और

पाँच हाथ का सिरक ओढ़ लेता है। खैर।

चारहत्थी लाठी थामे मैं महादेव भाई के दरवाज़े पर पहुँचा। वे बाहर बैठे थे और जाड़े के मौसम के कारण घूर जलाने की तैयारी में नार के जुन्ना बनाकर उससे बीड़ियाँ बना रहे थे। हालांकि, उनका मन काम में नहीं लग रहा था क्योंकि वह अपनी ही चिंता में डूबा हुआ था।

थोड़ा ठिठककर दूर से मैंने कहा-

"भाई, बाढ़ झेलेंगे तभी तो जाड़े की आग तापेंगे।"

मैंने सोचा था कि महादेव भाई मेरे साथ बातचीत में शामिल हो जाएँगे, लेकिन उनके मन की चिंता इतनी गहरी थी कि उन्होंने मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया। इस बीच मैं उनके पास पहुँच गया और पैर छूते हुए बोला-

"भाई, मेरी भी हाज़िरी है।"

महादेव भाई का चेहरा कुछ ऐसा उदास था जैसे जीवन की कोई अनमोल चीज़ उनसे छिन गई हो। मैं उनके पास बैठ गया और उनके चेहरे की ओर देखने लगा कि आगे क्या बोलते हैं। पहली नज़र में उनकी आँखें निस्तेज लगीं, मगर वास्तव में उनमें एक गहरी गंभीरता थी।

महादेव भाई बोले-

"मोतीलाल, क्या कहूँ। आज सुबह से ही मन बुझा-बुझा सा है।"

फिर जैसे कोई ईमानदार व्यक्ति अपनी भावनाओं के साथ किसी गूढ़ विचार को साझा करता है, उन्होंने कहा-

"मोती, अब तक बहुत से लोगों की यही धारणा रही है कि जीवन सौ वर्षों का होता है, यानी एक पूरी शताब्दी।"

जैसे गंभीर आदमी की बात को बिना गंभीरता से समझे लोग

अक्सर अलंकारों की तुक मिलाने लगते हैं, वैसे ही मैंने कहा- "भाई साहब, ऐसे विचार तो ऋषि-मुनियों के हुआ करते थे। अब तो हाल यह है कि बूढ़ों से ज़्यादा जवान मर रहे हैं।"

हमारी बात से सहमति जताते हुए महादेव भाई बोले- "मोती, मैं तुम्हारे विचार को काट नहीं रहा।"

महादेव भाई को एकरस और थका हुआ देखकर मैंने कहा- "भाई साहब, आज मन बहुत टूटा हुआ लग रहा है?"

जैसे हृदय में कोई अमृत-बाण लगते ही भीतर अमृत का स्वाद जाग उठता है, वैसे ही कुछ महादेव भाई के मन में भी उमड़ने लगा। वे बोले- "मोती, आज सुबह में जब नींद खुली, तो पके आम की तरह बिना तोड़े ही एक विचार मन में आ गिरा।"

सच कहें तो उनकी बात की पूरी गहराई मैं समझ नहीं पाया। फिर भी, पमरिया के तीसरे की तरह या महरैया के पलगाँइ की तरह, बस 'हाँ जी' करते हुए बोला- "कैसा विचार, भाई साहब?"

बातचीत के क्रम में मैं महादेव भाई को पूरी तरह परख नहीं पा रहा था, लेकिन उनके मन में ऐसी कोई मोरनी नाच उठी थी कि वे मगन होकर बोले-

"मोती! केशव! कहि न जाइ का कहिये।

देखत तव रचना बिचित्र हरि,

समुझि मनहिं मनहिमन रहिये।"

यह कहकर महादेव भाई चुप हो गए।

मैं स्वयं भी जनकपुर गया थे और वहाँ पाँच आने में तुलसीदास की लिखी विनय पत्रिका खरीदी थी, रामायण लिखने से पहले वाले तुलसीदास की नहीं, बल्कि रामचरित मानस लिखने के बाद के तुलसीदास की। उसी विनय पत्रिका में पढ़ा था- "केशव, कहि न जाइ,

का कहिये। देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिये।"

इतना तो आज भी मुझे याद है। लेकिन महादेव भाई का मन आज सुबह से न जाने किस उड़ान में था, या कहें कि अभी-अभी कहीं उड़कर आकर बैठा था, यह हमारी समझ में नहीं आ रहा था। वे हरे तोते की तरह हो गए थे, जो दिन भर अपने साथी के साथ रहता है और अँधेरा होते ही जब दोनों की नज़र से ओझल हो जाते हैं, तो मिलते ही चहक-चहककर बतियाने लगता है, मानो दृष्टि में ही सृष्टि समाई हो।

लेकिन इसके आगे का विचार पूरी तरह जाग नहीं रहा था, जिसे मैं साफ़-साफ़ समझ पाता।

जैसे रत्नाकर डाकू के मुँह से निकला "मरा मरा" शब्द वाल्मीकि बनकर उसका उद्धार करता है, और जैसे नंदनवन में विद्यापति को महेश-रूपी उगना मिलते हैं, वैसे ही आज सुबह में, ठीक उस समय जब महादेव भाई खाट से उठने लगे, उन्हें जीवन की एक स्पष्ट दृष्टि मिल गई।

यह जीवन-दृष्टि तब मिली जब आधा जीवन बीत चुका था और मृत्यु के करीब जीवन सामने आया था। यह वही दृष्टि थी जो कहती है: जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि। सृष्टि रचना भी है और वही दुनिया भी। और इसी सृष्टि–यानी इस संसार–के भीतर हमारा भी वास है।

अपने वास-स्थान में खुद को देखते ही, जैसे राम को वाल्मीकि और वाल्मीकि को राम मिले थे, वैसे ही महादेव भाई को भी अपनी ज़िंदगी की दिशा स्पष्ट दिखाई देने लगी। जीवन-दृष्टि के सामने आते ही उनके विचारों में एक लोच आया। इस लोच के साथ वे बोले-

"मोती, किसी वस्तु का नाम जब एक शब्द में बँध जाता है, तो उसे पहचानना और परखना आसान हो जाता है। लेकिन जब वही शब्द जोंक की तरह रेंगता हुआ कभी कीचड़ में और कभी मिट्टी में

चिपकने लगे, तब उसे परखना आसान नहीं रह जाता।"

महादेव भाई की बातों की गहराई मैं समझ पाता, तब न। मुझे तो कुछ समझ ही नहीं आ रहा था। इसलिए बस 'हाँ जी' कहकर हामी भर दी,

"हाँ, तब परखना आसान तो नहीं ही होता।"

मेरी बात का असर महादेव भाई पर कितना हुआ, यह तो वही जानें, लेकिन वे आगे बोले-

"मोती, आज सुबह से जब से मैंने 'नेता' शब्द का अर्थ 'नेत्रदेव' समझा है, तब से मन कुछ उखड़ा-उखड़ा सा लग रहा है।"

सहमति जताते हुए मैंने पूछा-

"वह कैसे, भाई साहब?"

महादेव भाई बोले-

"मोती, आत्मा किसे कहते हैं?"

यह प्रश्न उनके भीतर जागी हुई उसी जीवन-दृष्टि का परिणाम था, जिसमें अब एक चुटकी खुशी आकार लेने लगी थी।

महादेव भाई की बातें थोड़ी उलझी और दार्शनिक लग रही थीं। मैंने तो व्याकरण नहीं पढ़ा था। समाज में जो कानों से सुनता आया था, वही हमारे लिए प्रमाण था, जैसे वैदिक ऋषि श्रुति-ऋषि कहलाते थे। महादेव भाई भी कुछ वैसी ही शैली में बोले-

"आत्मा अमूर्त होती है। वह एक व्यापक सत्ता को ग्रहण करती है। आत्मा केवल अमूर्त चेतना का अव्यक्त सत्ता नहीं है, बल्कि वह शरीर, मन और समस्त चेतन-प्रकृति के बाहरी-भीतरी सभी तत्त्वों को अपने भीतर समेटे रहती है। इसलिए 'आत्मा' शब्द का अर्थ श्वास से भी जुड़ता है। संक्षेप में, जिससे आत्मा का संबंध हो, वही तत्त्व आत्मा है।"

ईमानदारी से कहें तो महादेव भाई की बातें मैं पूरी तरह नहीं समझ पाया। इसलिए जो थोड़ा-बहुत समझ में आया, वही कहता हूँ। महादेव भाई से पूछा- "भाई, रामवन का क्या हुआ?"

मेरा प्रश्न सुनते ही, जैसे सुबह की दृष्टि सृष्टि को पा लेती है, वैसे ही महादेव भाई बोले- "मोती, दुनिया-दारी के हिसाब-किताब का बोझ छोड़ दो। अपनी दुनिया खुद बनाओ और उसमें अपने आप को पहचानो। बेकार की उलझनों में क्यों फँसते रहते हो? जिस धरती पर जन्म लिया है, वह तुम्हारी भी है। तो क्यों न तुम भी अपनी एक दुनिया विश्वामित्र की तरह रच सकते हो?"

महादेव भाई की बातें सुनकर यह साफ़ लग रहा था कि बातचीत से वे शायद थक चुके हैं। उन्हें याद दिलाते हुए मैंने कहा-

"भाई, साढ़े तीन हाथ का आदमी हाथी को कैसे बौना बना दिया और अब फिर जंगली, यह भूल गए हैं या अब भी याद है?"

हँसते हुए महादेव भाई बोले- "जब कलियुग आने लगा, तब देवी-देवता हों या हाथी-हिरण, सब मनुष्य की चाल से हटते चले गए। तुम जानते हो, समुद्र के किनारे त्रिपुरा राज्य के पहाड़ी इलाके में एक जगह है, उनी कुट्टी। जब एक करोड़ देवी-देवता समुद्र में छिपने के लिए अपना इलाका छोड़कर भागे, तो त्रिपुरा पहुँचते-पहुँचते सुबह हो गई। दिन निकलते ही लोकलाज के डर से भागना छोड़ दिया और उसी उनी कुट्टी में बस गए।"

मैंने कहा- "भाई, दुनिया-दारी की बातें छोड़ दीजिए। अब यह सोचो कि बाढ़ से कैसे पार पाया जाए। यही सोचना भी है और यही करना भी।"

मेरी बात महादेव भाई के भीतर कहाँ तक पहुँची, यह तो वे ही जानते हैं, लेकिन चेहरे से साफ़ दिख रहा था कि कहीं भीतर कोई खुशी ज़रूर है।

मैंने मुस्कराते हुए कहा-

"भाई, अपनी खुशी अपने पास रखिए, मगर खुशी के नाम पर प्रसाद तो बाँटना ही पड़ेगा।"

जैसे कोई व्यक्ति बहुत देर तक साँस रोके रहने के बाद अचानक गहरी साँस छोड़ता है, वैसे ही महादेव भाई बोले-

"अपनी ज़िंदगी पर नज़र पड़ने के बाद इतना तो यक़ीन हो गया है कि एक चुटकी खुशी का पौधा मन में रोप दिया गया है।" ❑

अन्य के सिरे

☰

मिथिलांचल में एक गाँव है: सूर्जपुरा।

अब तक जितने भी गाँवों और लोगों के नाम रखे गए हैं, उनके पीछे कहीं न कहीं कोई भावनात्मक या विचारात्मक प्रवाह अवश्य रहा है। हाँ, अपवाद भी होते हैं। खैर, गाँव का नाम हो या किसी व्यक्ति का, नाम अंततः एक अमूर्त तत्व ही होता है। यानी गाँव का नाम सभी को ज्ञात होता है, लेकिन 'नाम' नामक कोई ठोस वस्तु नहीं होती।

जैसे 'आम' कहते ही एक फल की स्पष्ट छवि आँखों के सामने आ जाती है, वैसे किसी गाँव का नाम किसी दृश्य वस्तु में नहीं बदलता। यह बात उसी सूर्जपुरा गाँव की है, जहाँ गोपाल काका रहते हैं और मैं भी।

गोपाल काका अब जीवन के अंतिम पड़ाव पर हैं। अस्सी वर्ष की आयु पार कर चुके हैं और नब्बे के दशक में प्रवेश कर चुके हैं। समाज के अन्य चेहरों की तुलना में वे न तो अत्यधिक हृष्ट-पुष्ट हैं, न ही विशेष रूप से सुडौल।

इसीलिए उनके मन में यह भावना कभी नहीं जागी कि शताब्दी के अवसर पर कोई भव्य भोज दिया जाए, और फिर यह सोचा जाए कि अब इस दुनिया में रहना उपयोगी है या इसे छोड़ देना ही दुनिया

के लिए बेहतर होगा।

विचारों की दृष्टि से देखा जाए तो, अब तक समाज में जितने भी विचारशील लोग हुए हैं, वे किसी पेड़ पर अचानक उग आए फल नहीं थे। आज के परिवेश में हम देख सकते हैं कि समाज में एक वर्ग ऐसा भी है जो 'ओवर ड्यूटी' कर रहा है, अर्थात् मानव श्रम की सामान्य सीमा से कहीं अधिक, डेढ़ या दोगुना श्रम कर रहा है।

वहीं दूसरी ओर, ऐसे लोग भी हैं जो निर्धारित श्रम का एक चौथाई भी नहीं करते।

किसी समाज या देश की उन्नति वहाँ के निवासियों के श्रम का ही परिणाम होती है। हालाँकि, विचारों और प्रकृति के क्रम में समय-समय पर बदलाव आते रहते हैं। उदाहरण के लिए, जब हम दस कट्ठा या एक बीघा ज़मीन में बाग-बगीचे लगाते हैं, तो उसमें अत्यधिक श्रम लगता है, और जब उससे फल की आशा उत्पन्न होती है, तभी कभी बाढ़ का प्रकोप आ जाता है या सूखे का असर पड़ता है, जिससे वह हरा-भरा बाग़ सूख जाता है।

पेड़-पौधों या पशुपालन को लोहे का मशीन नहीं कहा जा सकता, जो रातोंरात जीवन को एक सीढ़ी ऊपर चढ़ा दे।

यह बात पूर्णतः सत्य है कि अब तक मनुष्य के विकास का जो इतिहास रहा है, वह अत्यंत मंथर गति से आगे बढ़ा है। यहाँ 'मंथर गति' का आशय उस प्रकार की सतही व्याख्या से नहीं है, जैसे राम की सतौली माता के विषय में यह विचार नहीं किया जाता कि वह राजा दशरथ की तीसरी पत्नी थीं अथवा शूद्र जाति की कन्या थीं।

वास्तविकता यह है कि हजारों वर्षों में एक-एक परिवर्तन धीरे-धीरे घटित हुए हैं।

इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। मान लीजिए कोई

दाल है। जब वह फल के रूप में छिमी की अवस्था में आती है, तभी से उसे खाना शुरू कर दिया गया। लेकिन दाल के रूप में, और फिर रोटी के साथ उसका प्रयोग आरंभ होने तक सैकड़ों वर्ष लग जाते हैं। इसी प्रकार, दाल से अदौरी या बड़ी बनने की प्रक्रिया में भी बहुत लंबा समय लगा है।

किन्तु आज का परिवेश बिल्कुल बदल चुका है। आज ऐसी विशालकाय मशीनें उपलब्ध हैं, जो सबसे कठिन कार्य भी बहुत कम समय में कर सकती हैं। ऐसे समय में, भले ही हम पूरे देश की खेती की बात न करें, मिथिलांचल की खेती की स्थिति चिंताजनक हो गई है। यहाँ किसानी जीवन धीरे-धीरे मिटता जा रहा है और समाज को विभिन्न तर्कों के सहारे भ्रमित किया जा रहा है।

एक और महत्वपूर्ण बिंदु है, जिस पर ध्यान देना आवश्यक है, वह है समाज की ढाँचागत संरचना। मनुष्य आदि काल से ही समाज का अंग रहा है और अपने मनुष्य होने का परिचय देता आया है। अतः समाज की यह संरचना कोई अचानक निर्मित व्यवस्था नहीं है, बल्कि यह आदिकाल से ही धीरे-धीरे आकार लेती रही है।

हमारा देश अभी विकसित देशों की श्रेणी में नहीं आता, बल्कि यह एक विकासशील राष्ट्र है।

यहाँ वैचारिक स्तर पर इतनी गहरी विषमता उत्पन्न हो चुकी है कि झूठ और सत्य आमने-सामने खड़े दिखाई देते हैं। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है: समाज का आधे से अधिक हिस्सा भाग्य और तकदीर की बीमारी से ग्रस्त है। समाज का अल्पयांश समय सही दिशा में प्रयुक्त हो रहा है या नहीं, इस पर भी गंभीर संदेह बना हुआ है।

यही है हमारा समाज, और यही है हमारे समाज की आर्थिक संरचना।

बचपन से ही गोपाल काका का जीवन-दृष्टिकोण दूसरों से भिन्न

रहा है। समाज अपने आप में एक वन की तरह है। इसे स्पष्ट रूप से इस तरह समझा जा सकता है: जैसे अकर्मक या सुकाठ्य लकड़ी के पेड़ों का सामूहिक वन होता है, वैसे ही मनुष्य और उसकी बुद्धि का भी एक वन होता है।

जैसे वन में हर रंग के फूल और फल खिलते हैं, वैसे ही मनुष्यों के इस वन में भी विचारों की विविधता पाई जाती है। विचारों के बीच भी वन के समान अच्छा से अच्छा फल-फूल या खराब से खराब फूल-फूल पाये जाते हैं, यानी श्रेष्ठ से श्रेष्ठ और निकृष्ट से निकृष्ट तत्व मौजूद होते हैं।

फिलहाल चर्चा का विषय गोपाल काका हैं।

बचपन से ही गोपाल काका निरीक्षणशील और सूक्ष्म दृष्टि वाले व्यक्ति रहे हैं। उन्होंने समाज की बोली-वाणी को ध्यानपूर्वक परखा और उसी के आधार पर अपने जीवन का मार्ग चुना।

आदिकाल से ही अच्छे और बुरे मनुष्यों के जीवन-वृत्त लोककथाओं, शास्त्रों और पुराणों में संकलित होते आए हैं। महाभारत का अध्ययन करते समय केवल कौरव-पांडव की कथा तक सीमित नहीं रह जाना चाहिए, बल्कि यह समझना आवश्यक है कि उस युग का सामाजिक जीवन कैसा था।

किस प्रकार के चरित्र वहाँ चित्रित हैं, वे किस प्रकार के सामाजिक परिवेश में जन्मे थे, और उन्होंने अपने श्रम के बल पर समाज में कैसी पहचान बनाई, यह सब वहाँ स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है।

आज का सामाजिक परिवेश निरंतर बिखरता चला जा रहा है, जिसके परिणामस्वरूप बहुसंख्यक लोग मनुष्यता के स्तर से नीचे गिरते जा रहे हैं।

आज चाहे कोई व्यक्ति समाज में कितना भी दबा-कुचला क्यों न हो, वह फिर भी उसी समाज का एक हिस्सा है। इसलिए उस व्यक्ति के प्रति समाज का दायित्व बनता है, केवल शासन करने का जवाबदेह नहीं।

बचपन से ही गोपाल काका ने अपने जीवन को निरंतर परखा और समझा। इसी कारण उन्होंने आँख मूँदकर भरोसे के सहारे चलने के बजाय, देख-समझकर अपने जीवन-पथ पर आगे बढ़ना प्रारंभ किया।

प्रकृति का कोई ऐसा नियम नहीं है कि यदि अच्छाई की बाढ़ आ सकती है, तो बुराई की बाढ़ नहीं, इसमें कोई अपवाद नहीं है।

फिर भी, समाज रूपी वन में गोपाल काका ने श्रीकृष्ण की भाँति अपने जीवन का मार्ग स्वयं खोज निकाला।

जिस प्रकार अच्छे से अच्छे मनुष्यों के जीवन-इतिहास से शास्त्र और पुराण भरे पड़े हैं, उसी प्रकार यह कहना भी गलत होगा कि बुरे से बुरे जीवन का कोई इतिहास नहीं है।

गोपाल काका ने अपने जीवन को समझते हुए अपनी दिशा स्वयं निर्धारित की, जिससे उनका पारिवारिक ढाँचा समयानुकूल बना रहा।

अपने जीवन-संकल्प को मन में रोपकर उन्होंने अपने विचारों को ही निर्णय लेने का अधिकार सौंपा।

यह केवल आज की स्थिति नहीं है।

सदैव से समाज के भीतर एक ऐसी धारा बहती रही है, जिसमें एक ओर धनवान और अधिक धनवान होते जा रहे हैं, जबकि दूसरी ओर गरीब नर-नारायण और अधिक गरीब होते जा रहे हैं। यह एक कटु सत्य है।

परंतु इन सब बातों से गोपाल काका को कोई विशेष सरोकार नहीं रहा।

जैसे जीवन टुकड़ों को जोड़कर खड़ा हो सकता है, वैसे ही यह कहना भी असत्य नहीं है कि टुकड़ों-टुकड़ों में कटकर भी जीवन संभव होता है।

दिन ढलते ही, अर्थात संध्या के आगमन के साथ, यह जीवन की एक आदत-सी बन गई है कि पारिवारिक कार्यों से विराम लेकर उन लोगों की सेवा में लग जाएँ, जिनके बीच हम रहते हैं।

इसी उद्देश्य से सूर्यास्त से लेकर संध्या के तीसरे पहर तक हम अपने घर-आँगन को छोड़कर समाज के द्वार-दरवाज़ों की रौनक बढ़ाते रहते हैं।

भाई, जीवन कोई मज़ाक नहीं है कि वह केवल मिट्टी की एक चुटकी या फूल-पत्तों के आशीर्वाद से ही चल सके।

परंतु अपने विचारों को जीवन की दिशा में मोड़कर गोपाल काका ने यह भली-भाँति समझ लिया था कि समाज अब दो-मुँहा हो चुका है। एक मुँह से निंदा करता है और दूसरे से प्रशंसा। यही है समाज का दोहरा चरित्र।

सभी जानते हैं कि जिस प्रकार अच्छाई की बाढ़ आती है, उसी प्रकार बुराई की बाढ़ भी आ ही जाती है।

संयोगवश, जब मैं अपने गाँव लौटा, तो पहला दरवाज़ा गोपाल काका के घर का पड़ा। संयोग यह भी रहा कि वे उसी समय दरवाज़े पर बैठे थे। हमारी नज़रें मिलीं। गोपाल काका ने पहले ही कहा-

"रामप्रीत, शुभ मुहूर्त में तुमसे भेंट हुई।"

सच कहूँ तो 'शुभ मुहूर्त' का अर्थ आज तक मुझे ठीक से समझ में नहीं आया। गोपाल काका के मुँह से यह शब्द सुनकर मैंने कहा-

“काका, बातचीत में ही समय बीत गया, पता ही नहीं चला कि पाँव कहाँ टिके हैं।”

गोपाल काका के मन में अब भी वही पुरानी जवानी की लहर बची हुई थी, जो जवानी पाकर किसी युवक को आती है। वे बोले-

“वत्स रामप्रीत, युवावस्था तो सभी पा लेते हैं, पर जवानी बहुत कम लोगों को मिलती है। जिसने जवानी पा ली, उसने जीवन का रहस्य समझ लिया। आज भी इस धरती पर अस्सी, नब्बे और पंचानबे वर्ष के ऐसे ऋषि-मुनि हैं, जो धरती के उद्धार में दिन-रात लगे हुए हैं।”

लेकिन समाज भी तो समाज ही है। 'राम' कहो या 'मरा', 'राम-नाम सत्य' कहो या 'राम-राम!' कहकर किसी को दुत्कार दो, या फिर 'राम-नाम' की आड़ में लूट मचाओ, हर किसी का अपना-अपना राम होता है।

इसलिए कोई चाहे तो अपना हिस्सा सँभाले, या उसे उड़ा दे। यह उसके अपने विचार पर निर्भर करता है।

गोपाल काका के विचारों के साथ बहते-बहते मैं कब अपनी ही सोच में डूब गया, यह समझ ही नहीं पाया।

जब उस बहाव से बाहर आया और चेतना लौटी, तो मैंने कहा-

"काका, मैं चाहे जितना भी देख-समझ लूँ, पर आप जैसा जीवन तो नहीं ही जी सकता।"

मेरे अनुसार यह बात बिल्कुल सही थी, पर गोपाल काका ने उसे सहजता से नकारते हुए कहा-

"रामप्रीत, ज़िंदगी कहीं खोई हुई थोड़े ही है। मगर वह तभी मिलती है, जब उसे खोजने की चाह हो।"

उनकी बात सीधे मन को छू गई। मैंने कहा-

"हाँ, यही तो कबीर बाबा ने भी कहा है कि खोजोगे, तभी हीरा-

मोती मिलेगा।"

अपने विचारों की लहर में अथवा मेरे विचारों के प्रवाह में वे बहने लगे और मन ही मन बुदबुदाने लगे-

"विचित्र है! दुनिया की रचना सचमुच विचित्र है।"

मैं यह सोच ही नहीं पा रहा था कि अधिक गुण वस्तुओं में है या भावनाओं में।

कुछ क्षण बाद गोपाल काका का मन कुछ स्थिर-सा हो गया।

उन्होंने विषय बदलते हुए पूछा- "रामप्रीत, एक बार चाय पियोगे?"

हालाँकि मैं उनके ही घर में बैठा था, फिर भी उनका यह कहना, "चाय पियोगे?" मुझे थोड़ा अटपटा लगा।

तभी यह स्पष्ट हुआ कि वे अपनी इच्छा से, मेरी इच्छा को जानते हुए यह कह रहे थे।

गोपाल काका दिन भर में दस बार चाय पीते हैं। यह कोई मजबूरी नहीं है। न ही यह सामाजिक मजबूरी है कि जब कोई दरवाज़े पर आ जाए तो आज के चलन के अनुसार चाय-पान से उसका स्वागत करना ही पड़े।

यह तो वैसी ही बात है जैसे बहुत-से लोग पान नहीं खाते, पर "पान-मखान" का ढोल सबसे ज़ोर से वही पीटते हैं। दरअसल, पान-मखान के साथ एक जीवन जुड़ा हुआ है, जो केवल ठोस ज़मीन पर नहीं, पानी में भी टिककर खड़ा रहता है।

बात करते-करते छठ पूजा का उदाहरण सामने आ गया, जहाँ दस-दस व्रती छाती भर पानी में खड़े होकर उपासना करते हैं।

जीवन तो जीवन है। यह न कोई खेल है, न कोई खिलौना।

यदि तुम पहाड़ के किनारे पत्थराई ज़मीन पर बसते हो, तो गर्मी

में ज़्यादा गर्मी और जाड़े में ज़्यादा सर्दी झेलनी ही पड़ेगी।

यहाँ भूगोल की गहराई में जाने की चर्चा नहीं है, लेकिन दुनिया ऐसा विचित्र है।

कहीं साल भर हर दिन वर्षा होती है, तो कहीं साल में एक दिन भी नहीं।

ठीक वैसे ही धरती के स्वभाव को देखो। कोसी किनारे की मिट्टी में दलदल और पानी भरा रहता है, जबकि राजस्थान की धरती में पानी का नामोनिशान तक नहीं होता।

यह स्थिति तो कबीर बाबा के "दो पाटों के बीच" वाली बात बन जाती है। लेकिन ऐसे पाट भी हैं जो फल और फूलों से भरे-पूरे खेतों को कोसी-कमला की बाढ़ में उजाड़ते-उखारते रहते हैं। आज भी समाज में कुछ वैसा ही हो रहा है। खेती-बारी उजड़ रही है, बसे-बसाए घर बर्बाद हो रहे हैं, लेकिन खोज-ख़बर लेने वाला कोई नहीं है। चाय-पान के बाद मैंने कहा-

"काका, आप तो अस्सी बरस से भी ज़्यादा समय से इस दुनिया को देख रहे हैं।"

जिस तरह गरम खपरैल या तपे तवे पर पानी की छींट पड़ते ही चर्र-चर्र कर जलकर सूख जाती है, उसी तरह गोपाल काका के मन में यह बात उभर आई कि परिवार रूपी धारा का मुँह दो दिशाओं वाला होता है।

एक ओर वह आगे बढ़ती है, तो दूसरी ओर से कुछ न कुछ पीछे छूटती चली जाती है।

अब तक यहाँ की जीवन-शैली मोटे तौर पर तीन प्रकार की रही है। अभी उसका विस्तार आवश्यक नहीं, फिलहाल बस इतना कि कुछ लोग अपने हिसाब से चलते हैं, और कुछ दूसरे के अनुसार। जहाँ लोग

होते हैं, वहाँ उनका सामूहिक रूप–परिवार–भी साथ चलता है। गोपाल काका बोले-

"रामप्रीत, जब पीछे मुड़कर जोड़-घटाव करता हूँ, तो समझ में ही नहीं आता कि पूस महीने की फीकी धूप की तरह अस्सी बरस कैसे बीत गए।"

मैंने बात को हल्के ढंग से काटते हुए कहा-

"काका, न तो आपने डायरी रखी, न पंचांग, फिर यह अफ़सोस कैसा?"

गोपाल काका मुस्कराए और बोले-

"रामप्रीत, सच कहूँ तो अब तक ज़िंदगी के बरसों का कोई ठिकाना मेरे मन में कभी रहा ही नहीं।"

मैंने कहा-

"काका, आपका जीवन तो सम्भला हुआ रहा है, फिर ऐसा क्यों लगने लगा?"

गोपाल काका बोले-

"जानबूझकर कोई धोखा नहीं हुआ, लेकिन धोखा इस तरह हुआ कि जब जीवन की धारा में अपने दायित्व उठा लिए, तब दुनिया हाथ से छूटती चली गई।

उसी से मैं बेठिकाना-सा हो गया। आज भी मन में बार-बार आता है कि कुछ आगे बढ़कर कदम उठाऊँ।"

मैंने अपनी ही दशा और दिशा की ओर संकेत करते हुए कहा- "काका, आपके अनुसरण का विचार मन में पूरी तरह से है, मगर समाज की चाल-ढाल मुझे रोक लेती है।"

मेरी बात पूरी भी नहीं हो पाई थी कि गोपाल काका बीच में ही बोल पड़े- "रामप्रीत, अपना रास्ता तो खुद ही समझता होगा न!"

गोपाल काका की यह बात सुनकर ऐसा लगा जैसे जीवन की कोई हीन प्रवृत्ति पीछे छूट रही हो और किसी नई प्रवृति की दिशा की ओर बढ़ रही हो।

उसी पल मन में खुशी के साथ-साथ ग्लानि भी उमड़ आई, जैसे सारी ज़िंदगी पानी में डूबती चली गई हो।

मैं, एक थका-हारा, हार मान चुका नट बनकर बोल पड़ा-

"काका, क्या हम सबका मूल्य अब झिटकी के बराबर रह गया है?"

हँसते हुए गोपाल काका बोले-

"रामप्रीत! यही जीवन है। दूसरों के सहारे नहीं, अपने सहारे हँसते रहो।" ❑

समय का फेर

☰

महादेवपुर गाँव में वसंत भाई और शरद भाई की आपसी मेल-मिलाप की परंपरा बहुत पुरानी है। इस मेल-मिलाप का कारण यह है कि दोनों का स्वभाव और परिवेश शुरू से ही एक ही समान रचा-बसा रहा है।

जैसे कहा जाता है- “लूट में चरखा भी मुनाफा देता है,” वैसे ही मिथिला में यह कहावत आदिकाल से चलती आ रही है।

चरखा तो घूमता ही रहता है। जो होना है, वह होता रहता है। इन सब बातों से न तो वसंत भाई को कोई विशेष सरोकार है और न ही शरद भाई को। उन्हें सरोकार है तो बस इतना कि उनके हिस्से में जो समय, जो कालखंड आया है, वह सार्थक बने। क्योंकि यदि उससे जन-मानस का कोई उपकार नहीं होता, तो फिर उस समय का मूल्य ही क्या है?

उपकार तभी होता है जब किसी को उसका लाभ मिले, और लाभ मिलने पर ही मन में उपकार का संस्कार जागता है। कहा भी जाता है- "अपनी रोटी जहाँ मिले, वहीं खानी चाहिए।"

यह भी समझा जाता है कि बुद्धि स्वभाव से ही बुज़ुर्ग होती है। अगर ऐसा न होता, तो बेटा पिता पर हुक्म क्यों चलाता? वसंत भाई साठ वर्ष की उम्र पार कर चुके हैं, और शरद भाई भी उसी अवस्था में

हैं। लेकिन शरद भाई ने बचपन से ही वसंत भाई के साथ गुरु-तुल्य व्यवहार किया है। यहाँ 'गुरु-तुल्य' का अर्थ है, जीवन से जुड़े समय और कर्मचक्र का निष्ठा के साथ बोध कराना। हालाँकि जहाँ ऐसे ऊँचे विचार हों, वहाँ यह देखना आवश्यक है कि पिता-पुत्र संबंधों का परिवेश आज कैसा बन गया है। यह सबके सामने स्पष्ट है। इन स्थितियों से न तो वसंत भाई विचलित होते हैं और न ही शरद भाई। उनका लक्ष्य यही रहा है कि अपने हिस्से के समय को अपने अनुकूल ढालकर, अपने तरीके से परिवार और समाज का सृजन करें।

यदि ऐसा न हो, तो सिर पर सिर कैसे पनपेगा? और फिर गुरु-शिष्य के संबंध में मिठास आएगी या खटास, यह भी संदेह बना रहेगा। शरद भाई वसंत भाई को गुरु तुल्य इसीलिए मानते हैं कि जहाँ वसंत भाई अपने कालखंड को, अर्थात वसंत ऋतु की हवा को, दान की तरह बाँटते हैं, वहीं समाज में शरद ऋतु की बदनामी भी है।

वह खाँसी-जुकाम से लेकर सर्दी-बुखार तक फैला देती है और कई बार जानलेवा भी हो जाती है। अंततः जीवन में छोटा-बड़ा होना उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना जीवन को दातृ शक्ति देने वाली क्षमता अर्जित करना। यह बात आज की नहीं है। जिस दिन से वसंत भाई और शरद भाई चेतन हुए, उसी दिन से उनके बीच ऐसा सामाजिक संबंध बन गया कि शायद ही कोई दिन बीता हो जब दोनों एक जगह बैठकर जीवन की आपसी मेलजोल वाली बातें न करते हों।

यह सिलसिला निरंतर चलता रहा।

इसी कारण उनके बीच ऐसा रिश्ता बन गया कि वे एक-दूसरे के मन और पेट की कड़वाहट और मिठास तक को पहचानते हैं।

जीवन की कड़वाहट और मिठास को समझे बिना जीवन को समझना संभव ही नहीं है। कभी वही जीवन कड़वी दवा बनकर रक्षा

करता है, तो कभी मुँह को कड़वा कर देता है। मिठास की गति भी कुछ ऐसी ही होती है। जो है, वही है।

वसंत भाई और शरद भाई के बीच गुरु-शिष्य या बड़े-छोटे सहोदर जैसा संबंध होते हुए भी उनके मन में कभी ऐसी कोई झिझक नहीं रही कि बिना बताए एक-दूसरे के यहाँ कैसे जाएँ।

ऐसे विचार आम तौर पर लोगों के मन में उठते रहते हैं। क्यों उठते हैं और कैसे समरस होते हैं, यह अभी की बात नहीं। अभी तो बस इतना ही कि न वसंत भाई को कोई समय-सीमा बाँधती है कि कब शरद भाई के यहाँ जाना है और न ही शरद भाई के मन में कोई संकोच है कि बिना कहे उनके यहाँ कैसे चला जाए।

एक साथ बैठने-उठने की परंपरा गाँव-घर में आदिकाल से चली आ रही है। मौसम के अनुसार यह परंपरा बदलती रहती है।

जाड़े के दिनों में अलाव के पास बैठकर आग सेकना और जाड़े के अंत यानी फागुन में घर के भीतर बैठकर मूँगफली के दाने खाना, ये सब जीवन के स्वाभाविक दृश्य हैं।

दिन भर के कामकाज को निपटाकर, दिन को गतिशील बनाए रखने की ज़रूरतें पूरी करने के बाद वसंत भाई के मन में यह बात आई कि हो सकता है शरद किसी काम में उलझ गए हों। क्यों न शरद के यहाँ जाकर देखा जाए।

काम तो काम ही होता है। हाथ-पाँव से किया जाता है। लेकिन काम की अपनी एक जकड़ भी होती है, जिसे न हाथ छोड़ पाता है, न पैर। वहाँ तीसरी शक्ति काम करती है, बुद्धि और विचार।

अपने-अपने विचार ही जीवन का निर्माण करते हैं। निर्माण की भी अपनी-अपनी प्रक्रिया होती है, कहीं गति से, तो कहीं मति से। यही महादेवपुर गाँव है, जहाँ सोनेलाल और अच्छेलाल का भाईचारा

भी मौजूद है। दोनों भाइयों के बीच भीतर से मेलजोल है, लेकिन उनकी पत्नियाँ दो माता-पिता की बेटियाँ हैं।

इसलिए उनके बीच भैंसा-भैंसी की तरह वैर रहता है। खाने के समय, चाहे दिन हो या रात, दोनों देवरानियाँ आपस में बातचीत में उल्झने के साथ-साथ तकरार करती रहती हैं।

उसी के साथ अपने-अपने हिस्से की नोकझोंक भी चलती रहती है। अंततः सोच-समझकर दोनों भाइयों ने अलग-अलग चूल्हे बना लिए।

अगहन का महीना था। सोनेलाल के मन में विचार आया कि अच्छेलाल के यहाँ बच्चे अधिक हैं, इसलिए अपने खलिहान के धान में से दो बोझ धान उनके धान में मिला देना चाहिए।

विचारों की एक ही धारा में खेत-खलिहान, आकाश-पाताल, हवा-पानी सब एक ही तरह के होते हैं। उधर अच्छेलाल के मन में भी यही बात उठी कि भैया हमेशा से जैसे मेहनती रहे हैं, वैसे ही खिलाने में भी उदार रहे हैं।

इसलिए अपने खलिहान से दो बोझ धान भैया के खलिहान में मिला दिए जाएँ। यह लीला एक दिन की नहीं थी। पूरा अगहन इसी तरह बीतता रहा। सुबह जब दोनों अपने-अपने धान के बोझ गिनते, तो हर दिन संख्या एक-सी ही होती।

जैसे कृष्ण का श्याम रूप होता है, वैसे ही धनश्याम कृष्ण का भी रूप होता है, एक बार दृष्टि पड़ जाने के बाद भेद करना कठिन हो जाता है।

जो होना था, वही हुआ।इन बातों से न वसंत भाई को कोई फर्क पड़ा, और न ही शरद भाई को। उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी कि अपने निजी जीवन को सामाजिकता में ढाल दिया जाए। जिस तरह सुबह

होते ही वसंत भाई अपनी दिनचर्या सँवारकर निकल पड़े, उसी तरह शरद भाई भी निकल पड़े और वसंत भाई की खोज में चल दिए। रास्ते में दोनों, वसंत भाई और शरद भाई, आमने-सामने आ गए।

एक-दूसरे से अपने-अपने मन और पेट की बातें कहने लगे। जब भीतर की जली-भुनी बातें पेट से बाहर आ जाती हैं, तो बेवजह का बोझ अपने-आप हल्का होने लगता है। वसंत भाई बोले-

"शरद, बहुत दिनों से मन था कि बैठकर बातें करें। अच्छा हुआ, तुम रास्ते में ही मिल गए।"

यह बात उन्होंने अपने मन की सहजता से कही। लेकिन शरद भाई के मन में भी एक विचार नाच रहा था। शरद भाई बोले-

"भैया, एक बात मन में काँटे की तरह गड़ी हुई है। छाया-सी महसूस होती है, लेकिन उसकी जड़ और सिरा जैसे भूल ही गया हूँ।"

जिस तरह तालाब में बंसी डालते ही देर-सवेर शिकार के रूप में मछली फँस ही जाता है, उसी तरह वसंत भाई का शिकार भी फँस गया। वे बोले-

"जब मन में छाया-सी कोई बात घूम रही है, तो याद करके कह ही देना चाहिए।"

लड़खड़ाती आवाज़ में शरद भाई बोले-

"बीस बरस पुरानी बात है।"

'बीस बरस' कहकर शरद भाई चुप हो गए।

लेकिन वसंत भाई के मन में जैसे देवघर के घी की शीशी की तरह साल-दर-साल के बीस पन्ने पलटने लगे। पर सालों के पन्ने पलटना कोई बच्चों का खेल नहीं होता। वसंत भाई बोले-

"शरद, सिर्फ़ साल बता देने से कोई घटना ढूँढ़ना आसान नहीं होता। महीने की तो बात ही क्या, एक ही दिन में कितनी घटनाएँ घट

जाती हैं।”

शरद भाई मुँह खोलकर बोलने में हिचक रहे थे। लेकिन वसंत भाई ने इतनी ज़ोर से कुरेद दिया कि शरद भाई का मुँह अपने-आप खुल गया।

शरद बोले- “भैया, ज़िंदगी तो ज़िंदगी है। कभी हँसाती है, कभी रुलाती है। इसी हँसने-रोने के बीच ज़िंदगी चलती रहती है।”

पक्षी, पक्षी की भाषा समझता है। यहाँ किसी और की बात नहीं हो रही, बल्कि वसंत भाई और शरद भाई के आपसी संबंध की ही बात है। शरद भाई की बात सुनकर वसंत भाई का मन वैसे ही मुरझा गया, जैसे डाल से टूटते ही गुलाब का फूल मुरझा जाता है। लेकिन वही फूल जब फिर से जीवन-रस में डूबता है, तो उसका रंग-रूप लौट आता है, वैसा ही, जैसा डाल से जुड़ी हुई ज़िंदगी में था। वसंत भाई का जो मन पहले ही मुरझा चुका था, वह और अधिक सँभल गया। सँभलते हुए वे बोले-

“वत्स शरद, अगर आदमी अपने ही जीवन का इतिहास याद नहीं रखेगा और उसे दूसरों के भरोसे छोड़ देगा, तो घाटा तो होना ही है।”

जैसे किसी बच्चे को कुछ समझाने लगो, तो वह आगे-आगे खुद भी कुछ न कुछ बुदबुदाने लगता है, वैसे ही वसंत भाई का मन बोल उठा- “यही तो गाँव है, यही समाज है। भले ही कुछ लोगों की संख्या घट-बढ़ गई हो, कुछ मर गए हों, कुछ नए जन्म ले चुके हों।”

वसंत भाई का विचार सीधा और साफ़ था, इसलिए शरद भाई को भी वह स्वाभाविक लगा।

उसने कहा-

“भैया, ज़रा ठीक से उस पूरे वृत्तांत को पलटकर देखिए।”

हृदय का उद्गार जैसे वसंत भाई के भीतर उफान मारने लगा। अपने मन की बात कहते हुए वे बोले-

“शरद, जब बेटा-बेटी विवाह के योग्य हो जाते हैं, तब उनकी राय भी ली जाती है। माता-पिता का अपना बोझ उतर जाता है। और जो यह बोझ नहीं उतार पाते, वे बहू के मुँह से रूखड़ा शब्द सुनते हैं।”

शरद भाई के मन में यह बात कौंध गई कि जब उसने वसंत भाई के विरोध के समय पक्ष में न अपनी जाति-बिरादरी ही साथ दिया था, न अपने हिस्सेदारों का, तब भी वसंत भाई पंजाब के वीर पर्वतेश्वर की तरह अडिग रहे। जैसे वह पर्वतेश्वर, जो सिकंदर के सामने डटकर खड़ा हो गया था, यह कहते हुए कि- “चाहे सूरज की जगह आग ही क्यों न बरसे, पर्वतेश्वर एक क़दम भी पीछे नहीं हट सकता। वही धरती तो हम सबकी है।”

किस भाव से वसंत भाई बोले और किस भाव से शरद भाई ने सुना, यह न तो वसंत भाई स्वयं समझ पाए और न ही शरद भाई। शरद भाई बोले-

“भैया, ज़रा उस घटना की जड़ तक के पन्ने पलट दीजिए।”

जैसे कोई अपने कर्म का फल पाकर तृप्त होता है, उसी तृप्त स्वर में वसंत भाई बोले-

“शरद, तुम भी जानते हो कि शुरुआत से ही, यानी जीवन के आरंभ से, मैंने मन में यह धारणा बना ली थी कि जब बेटा-बेटी विवाह के योग्य हो जाएँ, तो उनकी राय लेना उचित है।”

विचार की धारा में बहते हुए शरद भाई बोले-

“बिल्कुल उचित।”

वसंत भाई बोले-

“तुम्हें याद है कि बड़ी बेटी सुदामा जब आर. के. कॉलेज में

पढ़ती थी, तब उसकी उम्र इक्कीस वर्ष हो चुकी थी?”

बीच में समर्थन करते हुए शरद भाई बोले-

“गाँव में किसे नहीं पता था।”

वसंत भाई आश्चर्य से बोले-

“क्या तुमने देखा कि गाँव में तुम्हारे सिवा कोई मेरे साथ खड़ा हुआ? नहीं न?”

शरद भाई बोले-

“हाँ, कोई नहीं खड़ा हुआ।”

वसंत भाई बोले-

“तो गाँव-समाज ने मेरा क्या बिगाड़ लिया था? लेकिन आज...?”

मानो शरद भाई की ज़बान पर पहले से ही फ़ैसला लिखा हो, उसी तरह उन्होंने सुनाया,

“इस हाथ करो, उस हाथ पाओ।”

वसंत भाई बोले-

“यही गाँव-समाज है।

जो आग-पानी बंद करने वाला है, वही समाज सीता-स्वयंवर की बातें हँस-हँसकर करता है।

लेकिन जब समाज के भीतर कोई सच्ची घटना घटती है, तो मुँह फेर लेता है।”

शरद भाई बोले-

“हाँ, वह तो श्यामा के चुगले जैसी चुगलख़ोरी भी करता है।”

हँसते हुए वसंत भाई बोले-

“शरद, ज़रा हिसाब जोड़कर देखो तो कितनी शादियाँ मेरी बेटी

जैसी हुई हैं- जो सब उसी दिन विरोध किए गए थे, यानी अंतरजातीय विवाह, वे विवाह जिन्हें बेटे-बेटियाँ अपनी इच्छा से करते हैं।

उस समय समाज ने मेरे साथ क्या किया था और आज ‘समय का फेर’ कहकर आँखें तरेर-तरेर कर देखता है।”

शरद भाई बोले-

“वसंत भैया, बातों में इतने उलझ गए कि घर का ध्यान ही नहीं रहा।

पत्नी ने कहा था कि चायपत्ती और चीनी नहीं है, वही लेने जा रहा हूँ।” ❑

आलसी

☰

मिथिलांचल के मध्य में मक्खनपुर नाम का एक मध्यम आकार का गाँव है।

उसी गाँव में बालगोबिन और मंगैन नामक दो भाइयों का एक संयुक्त परिवार भी रहता है। कहने को मक्खनपुर एक पुराना गाँव है, लेकिन गाँव की मिट्टी और पानी अच्छे होने के बावजूद खेती-बारी कुछ कमजोर-सी ही रही है। अगर गाँव का कोई लिखित इतिहास होता, तो बात और होती। यहाँ तो श्रुति-पुराण की तरह मौखिक परंपरा ही इतिहास का आधार है।

मक्खनपुर के बारे में कुछ लोग कहते हैं कि कभी इस गाँव में बड़े-बड़े जंगली जानवर रहते थे और पूरे इलाके में इतने विशाल पेड़-पौधे थे कि लोग डर के कारण यहाँ बसने की हिम्मत तक नहीं करते थे। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि गाँव के लोग इतने हट्टे-कट्टे और बेपरवाह थे कि धोती तक आसमान में सुखाई जाती थी। आखिर गाँव तो सबका होता है, उसकी प्रशंसा की जाए या निंदा, जो कुछ भी कहा जाए, वह अपने ही गाँव और अपने ही पूर्वजों के लिए होता है।

यह सब तो सुनाई-सुनाई बातें हैं। वास्तविकता क्या है, वह भी सबके सामने है, भले ही कुछ बातें दबा दी गई हों या पड़ोसियों ने मुँह बंद कर गाँव के इतिहास को चुपचाप निगल लिया हो। यह कहना भी

सही नहीं होगा कि किसी गाँव में कभी कोढ़ी या कुकर्मी नहीं हुए हैं, या आज भी नहीं हैं। समय के साथ सत्ता बदलती है, शासन बदलता है, और इतिहास के पन्ने भी बदले जाते रहते हैं; लेकिन इन सब बातों से न तो मक्खनपुर गाँव को कोई फर्क पड़ता है, न बालगोबिन और मंगैन की इस भाईचारे को।

उन्हें सरोकार है तो बस अपने आपसी जीवन से।

यह कोई आज की बात नहीं है। गाँव-समाज में सदा से ऐसा होता आया है कि जैसे तरह-तरह के, अलग-अलग रंग-ढंग के लोग होते हैं, वैसे ही हर प्रकार की चाल-ढाल, स्वभाव और सोच वाले लोग भी गाँवों में रहे हैं और आगे भी रहेंगे। लेकिन उन सब बातों को अभी छोड़िए। फिलहाल बात मक्खनपुर गाँव के बालगोबिन और मंगैन की ही है।

मक्खनपुर गाँव की धरती ऐसी है जो कोसी, कमला और बागमती की सीधी मार से बची हुई है।

हाँ, कुछ-कुछ वर्षों में ऐसा समय आ ही जाता है, जब अत्यधिक वर्षा के कारण पूरे क्षेत्र में भीषण बाढ़ आ जाती है और तब मक्खनपुर में भी पानी भर जाता है। लेकिन अन्य गाँवों की तरह यहाँ भारी तबाही नहीं होती। इसलिए गाँव की जो चुहचुहाहट, यानी जीवन की हलचल और जीवंतता है, वह कभी पूरी तरह मरी नहीं। पेड़-पौधों से भरा-पूरा गाँव होने के कारण अगर कभी थोड़ा-बहुत नुकसान होता भी है, तो फल-बगानों की उपज उसकी भरपाई कर देती है।

गाँव के दिन बदले।

हज़ार वर्षों से बसे इस गाँव के लगभग नौ सौ वर्षों के इतिहास में एक बड़ा मोड़ आया। यह मोड़ गाँव की मिट्टी लेकर आया।

मक्खनपुर में भूगर्भीय जल-स्तर लगभग पंद्रह फ़ीट पर है।

पानी की इस सुविधा ने खेतिहर कृषि को नया बल दिया। बाढ़ से अपेक्षाकृत सुरक्षित रहने के कारण आस-पास के अन्य गाँवों के लोग भी आ-आकर यहाँ बसने लगे। धीरे-धीरे इलाके में मक्खनपुर की गिनती हरे-भरे, ललचाने वाले गाँवों में होने लगी।

बाग-बगीचों की भरमार इतनी थी कि पाँच वर्ष पहले तक भी राहगीरों को पेड़ों के नीचे बैठकर आम खिलाने की परंपरा चली आ रही थी।

ऐसे ही तो इसे आकर्षक गाँव नहीं कहा गया। आस-पास के गाँवों के लोग अपने बेटे-बेटियों के विवाह मक्खनपुर में करना शुभ मानने लगे।

सौ वर्षों के भीतर मक्खनपुर गाँव में वैसा ही परिवर्तन आया, जैसे किसी बड़े भूकंप से किसी गाँव की सूरत बदल जाती है। यह भूकंप विचारों का था, जिसने गाँव की पहचान को भी नया रूप दे दिया।

इस वैचारिक भूकंप का परिणाम यह हुआ कि मक्खनपुर में 'घर-दामाद' बसने की होड़ लग गई। अन्य गाँवों से आई बहुएँ तो आई हीं, लेकिन जनसंख्या इतनी बढ़ी कि लगभग साठ प्रतिशत बेटियाँ, उनके पति यानी गाँव के दामाद भी यहीं आकर बस गए।

जनसंख्या का ग्राफ़ इतनी तेज़ी से ऊपर चढ़ा कि कुछ ही समय में मक्खनपुर पंचायत के रूप में स्थापित हो गया।

दूसरे गाँवों से आने वाले इन दामादों में आधे से अधिक ऐसे थे जिन्हें कोढ़ जैसी बीमारी ने पकड़ लिया था। ऐसी बीमारी कि वे दिन भर ताश खेलते रहते थे और किसी काम के नहीं रहते थे। आख़िर जो कुछ भी हैं, वे मनुष्य के ही बच्चे हैं।

गाँव की खेती-बारी का रंग-रूप आसमान छूने लगा है। लेकिन

समाज के भीतर कोढ़ जैसी बीमारी कुछ बाहर से आए लोगों के साथ आई और कुछ यहीं की मिट्टी-पानी में पनप गई।

गाँव की मिट्टी-पानी में बीमारी पनपने का मतलब यह है कि गाँव के माता-पिता, अर्थात जमाइयों के सास-ससुर, के भीतर ऐसी धारणा बन गई कि दामादों से मुँह खोलकर कोई काम करने या कमाने को कहना वे अपनी प्रतिष्ठा का हनन मानते हैं।

दूसरी ओर यह भी सच है कि कुछ ऐसे लोग भी दूसरे गाँवों से आकर यहाँ दामाद बनकर बस गए, जिनके अपने गाँव में ही यह कोढ़ी बीमारी फैली हुई थी। कहा जा सकता है कि ऐसा कहीं भी हो सकता है।

लेकिन ज़रा यह सोचिए, जिस गाँव में ताड़ और खजूर के पेड़ अधिक हों, और उन पेड़ों के अमृत को गाँव वाले पूरी तरह बाँटने के बजाय बाहर वालों के हाथ बेच दें, तो फिर राक्षसों और देवताओं द्वारा किए गए समुद्र-मंथन का अर्थ ही क्या रह जाता है?

अपना हिस्सा लेने के लिए राहु-केतु अपने अक्ल को कब तक दबाकर बैठेंगे?

जो है, वही है।

गाँव के लोगों में जितनी समझ बढ़ेगी, उतनी ही गाँव-समाज की कील मज़बूत होगी। और कील जितनी मजबूत होगी, उतना ही आगे चलकर गाँव-समाज के लिए नये अक्ल के दरवाज़े खुलते जाएँगे।

मक्खनपुर गाँव के बालगोबिन को 'मणिपद्म' भाई के बालगोबिन से नहीं मिलाना चाहिए।

'मणिपद्म' भाई का बालगोबिन तो ऐसा भोला-भाला था कि उसे यह भी बोध नहीं था कि वह पुरुष है या स्त्री। लेकिन मक्खनपुर

का बालगोबिन पारिवारिक जीवन के प्रति समर्पित व्यक्ति है। मक्खनपुर में बालगोबिन और मंगैन, दोनों भाइयों की साझा गृहस्थी है।

हालाँकि बालगोबिन परिवार में बड़ा भाई है, लेकिन बुद्धिहीन होने के कारण परिवार की देख-रेख मंगैन के हाथ में है।

इसीलिए बड़े भाई होते हुए भी बालगोबिन का जीवन छोटे भाई की अभिभावकता में ही चलता है। बालगोबिन का विवाह नहीं हुआ।

न होने के कई कारण थे। कहीं रंग का दोष, कहीं रूप का दोष, कहीं जाति का दोष, तो कहीं कुल-मूल का। मोटे तौर पर यही समझिए कि जहाँ आशीर्वाद देने की जगह होती है, उससे ज़रा भी कम दोष निकालने की जगह नहीं होती; बल्कि कई बार उससे भी ज़्यादा होती है।

आखिर जब सिर पर बँधी गठरी खोली जाएगी, तभी न पता चलेगा कि ससुराल में ठकुआ मिलेगा या बगिया।

इसे कहीं और मत ढूँढ़िए, जैसे लोग सात दिन ठकुआ खाते हैं, वैसे ही बगिया भी खाते हैं। हालाँकि इसका दूसरा पक्ष भी है, और वह यह कि भोजन के सिद्ध भोज्य–अन्न–को आखिर कितने दिनों तक खाया जा सकता है।

बालगोबिन का विवाह न होने को लेकर उसके मन में रत्ती भर भी कुविचार नहीं है। इसका कारण यह है कि वह सरल और संतुलित बुद्धि वाला व्यक्ति है।

परिवार में वह भाई के बच्चों को, तथा उसकी पत्नी को, अपने से अलग नहीं मानता। संतानोत्पत्ति को लेकर भी समाज की धारणा दोहरी है।

अब तक समाज के अधिकांश लोगों के मन में यह विचार बैठा

हुआ है कि मनुष्य भोग-योनि का प्राणी है, जबकि भोग-योनि तो पशु-पक्षी और कीट-पतंग होते हैं, मनुष्य नहीं।

मनुष्य योग-योनि का प्राणी है, जो अर्थ, धर्म और काम के मार्ग से होकर अखंड शांति अर्थात मोक्ष की प्राप्ति करता है।

जिसे हम 'गति-मुक्ति' भी कहते हैं और मोक्ष-मुक्ति भी।

बालगोबिन का मन समाज की उस संकीर्ण विचारधारा में बँधा हुआ नहीं है जिसमें यह माना जाता है कि समान जाति के लोग ही विवाह योग्य होते हैं। वह जानता है कि अनेक जातियों में ऐसे लोग हैं जिनका विवाह नहीं हुआ, फिर भी उन्होंने परिवार को ही अपना संसार मानकर जीवन बिताया है।

हालाँकि यह भी सच है कि जाति के भीतर और जातियों के बीच ऐसे असंस्कार पनप गए हैं जो परिवार को सँभालने के बजाय उसे नष्ट करने में लगे हुए हैं।

जब विवाह और दान में चालाकी से रोक-टोक होने लगती है, तभी परिवार के गठन में कमी आने लगती है। समाज में ऐसे समाज भी हैं जहाँ लोग अष्टावक्र की तरह आठों अंगों से टेढ़े माने जाते हैं, फिर भी उनका विवाह हुआ और परिवार बना।

अब रही बात जीवन के गुजर-बसर की, तो जीवन-रक्षा के लिए हमारे समाज में भिक्षा की परंपरा भी तो रही है।

इसका यह अर्थ नहीं कि संपन्न लोग इस वृत्ति से सर्वथा मुक्त हैं। भिक्षा का उचित आधार क्या होना चाहिए और उसका व्यावहारिक पक्ष क्या है, यह विचारणीय विषय है। मगर अभी नहीं। अभी तो बस इतना ही कि कबीर बाबा कह गए हैं, उदर समाता माँगि ले, ताको नाहिं दोष। कहैं कबीर अधिका गहै, ताकि गति न मोष। पंचायत में मुखिया के चुनाव की चर्चा चल रही है। ग्राम पंचायत के चुनाव अनेक

तरीकों से लड़े जा रहे हैं। एक ओर समाज-सुधारक सेवक के रूप में खड़े हैं, तो दूसरी ओर समाज-विध्वंसक भी कम नहीं हैं।

यह कहना भी गलत नहीं होगा। आज भी कुछ उम्मीदवार अपनी निजी पूँजी से चुनाव लड़ते हैं, तो दूसरी ओर बैंक मैनेजर का बेटा भी किसी कमी से वंचित नहीं है।

आखिर क्या कहें, कितना कहें, जब गाँव है, तो जैसे हरि अनंत हैं, वैसे ही हरिकथा भी अनंत है। संयोग ऐसा बना कि सुबह के उजाले के समय माङैन पाँच-छह लोगों के साथ दरवाज़े पर पहुँचने ही वाला था कि उसने देखा, बालगोबिन मालिक के घर के सामने की छाया में बैठा हुआ है। कभी वह अपने पैरों की उँगलियों को हाथों से दबाने की कोशिश करता, तो कभी खींच-खींचकर फोड़ने का उपक्रम करता। माङैन बालगोबिन के सामने आते ही बुदबुदाया, “क्या पूछते हो, पूरे मरे लोग सब बहुत सब बहुत कामचोर हैं।”

पास बैठे बालगोबिन ने भी यह बात अपने कानों से सुन ली।

पहले ही गाय के नाद की थैली से लगी ईंट की चोट उसके पैर में खाई हुई थी, जिससे सारा शरीर टूट-सा गया था।

उस पर विचारों का घी पड़ने के बजाय जैसे अलकतरा फैल गया।

वैसे भी माङैन के मन में अपने भारीपन को समाज के लोगों को दिखाने की ही इच्छा थी।

इसी बीच बालगोबिन ने अपने पैर की चोट को पैर से ही दबाकर सँभाल लिया, जिससे दर्द कुछ हल्का पड़ गया। आत्मिक पीड़ा किसके मन में नहीं होती। जब यह सबके भीतर है, तो क्या बालगोबिन इससे अछूता है, ऐसी बात भी नहीं है। अचानक बालगोबिन के मन में विचार उठा कि क्यों न समाज और परिवार का मंथन भी समुद्र-

मंथन की तरह हो जाए।

जब गाँव-समाज में पाँच-छह प्रभावशाली लोग हैं, तो क्यों न वह भी अपना पक्ष रखे।बालगोबिन बोला-

“माङैन, मेरे पैर में ईंट की चोट लगी है, यह पूछने की ज़रूरत भी नहीं समझी और सीधे मुझे कोढ़ी या कामचोर कह दिया। क्यों, ताकि समाज के लोग सुनें?”

बालगोबिन की आवाज़ में न जाने कैसा असर था कि माङैन का मन पीछे हट गया। दूसरी ओर, बालगोबिन के भीतर जीवन-संघर्ष पेट से उठ-उठकर बाहर आने को आतुर था, जिससे उसकी आवाज़ में कंपन पैदा हो गया। हिचकते हुए माङैन बोला-

“अभी दरवाज़े पर अच्छे-खासे लोग आए हुए हैं, इसलिए अभी परिवार की इज्जत भी तो देखनी पड़ेगी न।”

लेकिन माङैन के विचार का असर बालगोबिन पर रत्ती भर भी नहीं पड़ा।

जैसे धरती के गर्भ में आग, राख और धुआँ भरा रहता है, जो ज्वालामुखी बनकर फूट पड़ता है और पूरे गाँव को राख में बदल देता है, वैसे ही बालगोबिन फूट पड़ा-

“दो गायों की सेवा करता हूँ, पूरे सोलहों आना निभाता हूँ। सोलहों आना यानी घर-बाहर की जिम्मेदारी से लेकर उनके रहने की व्यवस्था, खिलाने-पिलाने से लेकर जंगली जानवरों से रक्षा तक। खेत-खलिहान की देखभाल भी करता हूँ। तुझे इससे कोई मतलब नहीं, लेकिन इतना सब करने के बाद भी मैं ही कोढ़ी हूँ, जिसे समाज को सुनाया जा रहा है। क्या यह संपत्ति मेरी नहीं है?”

बालगोबिन की बात सुनकर माङैन संकुचाते हुए बोला- “भैया, सब कुछ आपका ही है। आखिर जो करता है, उसी का होता है। मैं

तो छोटा भाई हूँ।”

अगर बालगोबिन का हृदय पत्थर का होता, तो बात और थी। लेकिन ऐसा नहीं था।

उसके मन में तुरंत बचपन की स्मृतियाँ उभर आईं, जब उसने माङैन को कंधे पर बैठाकर अलग-अलग गाँवों के मेले दिखाए थे।

फिर मैं उसे अपने से अलग, पराया कैसे मान लूँ? ❑

मुहाँ-ठुठ्ठी

☰

सुबह का समय था। द्वार-दरवाज़े का काम समेटकर सहना दादी आँगन की ओर निकलीं, तो देखा कि आठ-नौ हाथ लंबा केले का घौड़ गिर पड़ा है। कुशल कारीगर की तरह वे घर से निकलकर आँगन आईं, हँसुआ उठायीं और फिर लौटकर केले के उस घौड़ को काट दिया। घौड़ कटते ही सहना दादी के विचार ठहर से गए। उन्होंने घौड़ को आगे बढ़ाकर रास्ते पर रख दिया और फिर तुरंत घूमकर केले के पेड़ की हालत देखने लगीं।

एक तो लगातार अधिक वर्षा हुई थी, ऊपर से गाँव का पानी इस तरह भर गया था कि पूरा चौमासा मानो चौर बन गया था। बनना था कुछ बेहतर, मगर बन गया और भी बदतर। केले की जड़ों में महीने भर से पानी लगा था, पेड़ का तना गल गया था, इसलिए घौड़ टूटकर गिर पड़ा। संयम रखते हुए सहना दादी ने केले का पेड़ जड़ से काटकर गिरा दिया और हँसुआ लेकर घौड़ के पास आ बैठीं। केले की दशा देखकर उनका मन कुछ खिन्न हो उठा। खिन्न इस बात से कि अगर आज पेड़ पर पका हुआ केला होता, तो कितने आनंद से परिवार के लोग पाँच दिन खा सकते थे।

तभी सहना दादी का मन बदल गया। मन बदलते ही वे कबीर की तरह पंचायत करते हुए बुदबुदाईं- "जितना धरा था, उतना तो

अपने बूते कर लिया, मगर राजा-दैव तो बाधक ही ठहरा।”

मन को समझाकर सहना दादी ने दाहिने हाथ में केले के उस घौड़ उठाया, बाएँ हाथ में हँसुआ ली और आँगन की ओर बढ़ चलीं। आँगन में आकर ओसारे पर घौड़ रखते हुए उन्होंने बहू से कहा- “बहू, सब्ज़ी ले आई हूँ।”

‘सहना दादी’ उनका समाज द्वारा दिया गया नाम है। माता-पिता द्वारा रखा गया उनका असली नाम ‘दमयंती’ था। वैसे भी देखा गया है कि पुरुष का नाम बचपन से लेकर बुढ़ापे तक वही बना रहता है, लेकिन स्त्री का नाम ससुराल में पाँव रखते ही निषिद्ध-सा हो जाता है, और वह ‘भौजी’, ‘चाची’ जैसे संबोधनों में सिमट जाती है।

सहना दादी का बेटा गुलाबचन अपनी मेहनत के बल पर कलकत्ता में नौकरी करता है। उसी की कमाई और सहना दादी की देखरेख से घर-परिवार चलता है। यहाँ यह न समझा जाए कि 'कोढ़ी या कामचोर को कामकाजू बनाना है तो उसे परिवार का भार दिया जाए।

गुलाबचन का बेटा, यानी सहना दादी का पोता, पाँच भाई-बहनों में सबसे बड़ा है। उसका नाम सुमंगल है। वह हाई स्कूल की नौवीं कक्षा में पढ़ता है। तेरह वर्ष बीत चुके हैं और वह चौदहवें वर्ष में प्रवेश कर चुका है। चौदह वर्षों का वनवास ही तो राजकुमार राम को भगवान राम बना देता है। उसी तरह, पाँचों पांडवों के बारह वर्षों के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास ने उन्हें कौरवों के सामने सीना तानकर खड़े होने की शक्ति दी थी।

अबोध सुमंगल क्या समझे कि दाल-सब्ज़ी किन-किन चीज़ों से बनती है। इसलिए वह चुपचाप दरवाज़े की चौकी पर बैठा अपने आने वाले दिनों की दिनचर्या के बारे में सोचता रहा।

सब्ज़ी का नाम सुनते ही सरोजनी, जो सुमंगल की माँ और

गुलाबचन की पत्नी है, घर से निकलकर ओसारे पर आई और केले का घौड़ देखकर ठिठक गई। ठिठकने का कारण यह था कि जीवन में उसने कभी 'कच्चे केले' की तरकारी या सब्ज़ी नहीं खाई थी। उसे मात्र यह पता था कि केले के छिलका हटाकर गुदा से सब्ज़ी बनती है। मगर यह तो कच्चा केला है।

सरोजनी गाँव की स्त्रियों के सामान्य स्वभाव की प्रतिमूर्ति है। किसी बात को स्वीकार करना और किसी को नकार देना, ये दोनों विपरीत दिशाओं के व्यवहार और सोच को दर्शाते हैं। सरोजनी बोल उठी-

"जो बाप-जनम से नहीं देखा, वही आज देखना पड़ रहा है।"

बैशाख-जेठ की शांत सरिता की तरह सहना दादी के विचारों का प्रवाह बना ही हुआ था। वे बोलीं-

"बहू, कभी न बनाया हो, न खाया हो, यह तो अलग बात है। मगर बाप-जनम से नहीं देखा, ऐसा क्यों कहती हो? बाप का जन्म तो किसी न किसी रूप में तुमसे बीस-पच्चीस साल पहले ही हुआ होगा।"

अपने काम का तर्क साधते हुए सरोजनी ने कहा-

"यह तो ऐसा केला है कि पूरा छलका ही है। इसे कैसे छीला जाएगा और गूदा निकालकर सब्ज़ी बनाई जाएगी?"

अपनी प्रौढ़ता का परिचय देते हुए सहना दादी बोलीं-

"बहू, यही शरीर है जिसने पचासों दिन तक कच्चे केले की तरकारी और सब्ज़ी खाई है और आज तुम यह कह रही हो कि बाप-जनम से ऐसा कभी देखा ही नहीं। क्यों नहीं यह कहती हो कि सावन में जन्मी नढ़िया यानी सियार और भादों में आई बाढ़ तो ऐसा देखकर बोला कि 'बाप-जनम में ऐसी बाढ़ नहीं देखी।'"

नढ़ियों का यह उदाहरण सुनते ही सरोजनी अपने आप को रोक

नहीं सकी। परिवेश, यानी समाज के भीतर का व्यवहार, ऐसा बन गया है कि बड़े और छोटे के विचारों के बीच परिवार भी और समाज भी समाप्ति के कगार पर खड़े दिखने लगे हैं। इसी कारण पूर्वजों के विचार मिटते जा रहे हैं। यह भी सच नहीं है कि पूर्वजों के सारे व्यवहार एक ही तरह के थे। उनमें अच्छा भी था और बुरा भी। हम और आप ही तो समय को ध्यान में रखकर अच्छे-बुरे का विवेक करते हैं।

फन उठाए नागिन की तरह फुफकारती हुई सरोजनी केले के उस घौड़ से हटकर घर की ओर बढ़ती हुई बोली-

“ज़िंदगी में जो कभी नहीं देखा, वही आज इस आँगन में देख रही हूँ।”

बहू के शब्दों की चोट से सहना दादी का हृदय हिल गया। पर हृदय तो हृदय है। अपनी मर्यादा को थामते हुए उन्होंने विचारों को संयम में रखा। उनका मन इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बहू को भी कुछ सिखाना है और पोते को भी सही दिशा दिखाना ज़रूरी है।

वे आवाज़ लगाकर बोलीं-

“बेटा सुमंगल, ज़रा इधर आओ।”

पोते के बारे में सोचते हुए सहना दादी के मन में यह भाव भी उठा कि बहू चाहे जैसी हो, है तो उनकी ही बहू, मगर सुमंगल के लिए वही उसकी माँ है। इसलिए अपनी इज़्ज़त के साथ-साथ बहू की इज़्ज़त बचाते हुए बात करना ही बेहतर होगा। जिस तरह नागिन की तरह फुफकारती हुई सरोजनी घर के भीतर चली गई थी, उसी तरह अजगर की तरह सम्मोहित कर देने वाले शब्दों में बोलना भी उचित नहीं था।

इसी बीच सुमंगल सहना दादी के पास आकर बोला-

“क्या कह रही हैं, दादी?”

सुमंगल को संयम में रखते हुए सहना दादी बोलीं-

“बेटा, ज़रा ठहरो। एक ही बात को बार-बार कहने से उसका असर कुछ बदल जाता है। इसलिए मैं बात एक ही बार कहूँगी और तुम दोनों, माँ और बेटा, ध्यान से सुनना।”

विचारों को रोक देने और अपने मत को सर्वमान्य बनवा लेने के उद्देश्य से सरोजनी वहाँ आ पहुँची। आ तो गई, पर बोली कुछ नहीं।

मंच को खाली देखकर और अपना दायित्व समझते हुए सहना दादी ने सुमंगल को बीच में खड़ा किया और बोलीं-

“बेटा, अमृत समझकर हमने केले का पौधा लगाया था, जो समय की मार से टूटकर गिर पड़ा। मगर उसे फेंक देने से पहले जीवन की ओर देखकर ही निर्णय लेना चाहिए।”

विचारों और भावनाओं की धार में बहते हुए सुमंगल बोला-

“अच्छा तो यही होगा।”

वैसे सुमंगल का यह कथन सरोजनी के विचारों को सावन के साँप की तरह जकड़ चुका था। केंचुल छोड़ने के दर्द को सहते हुए वह चुप ही रही।

अपने विचारों को और दृढ़ करने तथा अपने जीवन में घटी घटनाओं और कामकाज का संदर्भ देने के लिए सहना दादी बोलीं-

“बेटा, यही वह परिवार है जिसमें कई-कई महीनों तक दाल तक नहीं पकी। आज तुम्हारे सामने जो केला है, उससे बनी तरकारी और सब्ज़ी न जाने कितने दिनों तक बनाई और खाई गई होगी, उसका कोई हिसाब नहीं।”

बेटे को सामने देखकर सरोजनी अपने बीते हुए जीवन को भूलने लगी। इसलिए उसने कुछ कहा नहीं, बस भीगी आँखों से सहना दादी और सुमंगल की ओर देखकर पलकें नीचे झुका लीं।

अगर सुमंगल कुछ समझता होता, तो शायद कुछ कहता भी, मगर वह तो अभी कुछ समझ ही नहीं पाया था।

सहना दादी ने कहा-

“बेटा सुमंगल, एक ही गाँव में जिसकी जैसी हैसियत होती है, वैसा ही उसका खान-पान भी होता है।”

सुमंगल बोला-

“हाँ, लोग तो वैसे ही खाते-पीते हैं।”

अपने विचार को दृढ़ करने के लिए, जैसे कोई व्यक्ति अनेक दृष्टियों से विचारों को देखकर उन्हें व्यवहार की तराज़ू पर तौलता है, उसी तरह सहना दादी तौलती हुई बोलीं-

“बेटा सुमंगल, जैसे हमारे यहाँ कच्चे केले के छिलका सहित तरकारी और सब्ज़ी बनती है, वैसे ही बंगाल में पके हुए केले के छिलके की भी सब्ज़ी बनाई जाती है, जिसे हम लोग यहाँ फेंक देते हैं।”

भीतर-ही-भीतर सरोजनी का मन जल रहा था, इसलिए मौका पाते ही वह बोल उठी-

“ढाका-बंगाल में जाकर तो यही सब देख आई हैं।”

जैसे फुटबॉल में पैर से मारी गई गेंद को कोई हाथों से लपक लेता है, वैसे ही सरोजनी के विचार को थामते हुए सहना दादी बोलीं-

“बेटा सुमंगल, हम लोग कटहल की गुठली से भी तरकारी, सब्ज़ी और चटनी-वगैरह सब कुछ बनाते हैं, जबकि पश्चिमी इलाकों में, यानी भोजपुरी क्षेत्र में, लोग उसे फेंक देते हैं।”

सुमंगल के मन में जैसे नए-नए विचार उठने लगे। अपने सोच को जगाते हुए वह बोला-

“दादी, यह तो दूसरे इलाकों की बात हुई, अपना इलाका तो

ऐसा ही है।”

पोते की बात सुनकर सहना दादी के विचारों में जैसे और वेग आ गया। वे बोलीं-

“बेटा, अपना इलाका तो उससे भी ज़्यादा बिगड़ा हुआ है। पश्चिम के गाँव रामपुर को तो तुम जानते ही हो। रामपुर के पूर्वी बाँध पर पाँच पीरार के पेड़ हैं। वे खूब फलते-फूलते हैं। उनके फल और फूल, दोनों की तरकारी और सब्ज़ी बनती है, मगर अभी हाल तक उस गाँव के लोग पीरार खाते ही नहीं थे। पिछले तीन वर्षों से लोगों ने उसे खाना समझा है। कहते थे कि पीरार के पेड़ पर सुगवा साँप रहता है, इसी डर से उसे छोड़ देते थे।” ❑

दमघूँट कर मरने लगा

☰

रामलखन और मैं बिजलीपुर से लौट रहे थे। रामलखन नौनिहाल से आ रहा था, इसलिए रास्ते में बथनाहा में हम दोनो मिल गये। मैं सुबह में हँसुआ-खुरपी में धार लगवाने बिजलीपुर गया था। काम का मोल तो होता ही है। दिन चढ़ते-चढ़ते बरही कारीगर चार घंटे की ऐसी ड्यूटी पूरी कर चुका होता है, जिसमें हँसुआ-खुरपी के साथ घन-हथौड़ी भी चलानी पड़ती है।

इसलिए यह कहना ठीक नहीं कि उस समय सोने वाला कोई नहीं होता। होता है, मगर वे या तो साधु होते हैं या चोर। जिसने रात की ड्यूटी की हो, उसके लिए सुबह में सोना सहज है। लेकिन जो रात की क्या बात, दिन में भी सोता रहे, उसी को तो चोर कहा जाएगा। सोते-सोते वही समय भी चुरा लेता है।

जो कुछ भी कोई करता है, अपने लिए करता है। मिथिला में पुरानी कहावत भी है, कोई अपने लिए करता है, न माँ के लिए, न बाप के लिए।

वैसे तो अपने गाँव में भी बरही कारीगर हैं, मगर वे हँसुआ-खुरपी के काम से आगे बढ़कर बिजली मिस्त्री और कंप्यूटर मिस्त्री बन गए हैं। इसलिए छोटे-मोटे काम के लिए बाहर जाना पड़ता है।

बिजलीपुर के कमरसार से निकलकर जब मैं बथनाहा के चौराहे

पर पहुँचा, तो दक्षिण दिशा से रामलखन को साइकिल पर आते देखा। वहीं मैं ठहर गया। ठहरना इस अर्थ में नहीं था कि साइकिल के लोभ में खड़े हो गए हों कि रामलखन बैठाकर ले जाएगा, बल्कि इसलिए कि रामलखन कल ही गाँव छोड़कर गया था, तो उसके घर-परिवार का हाल-चाल पूछ लिया जाए।

आज भी गाँव-घर में कुछ शिष्टता अवश्य जीवित है कि अपने गाँव के आदमी को किसी दूसरे गाँव में देखते ही उसे अपने समाज का मानकर हाल-चाल पूछा जाता है और यह जानने की भी इच्छा होती है कि वह वहाँ किस कारण से आया है। हालाँकि अब ऐसा कम ही रह गया है।

रामलखन पास आया तो उसने साइकिल रोक दी। वैसे उसे आते हुए पहले ही देख लिया था, इसलिए बीच-बीच में आँख उठाकर दक्षिण दिशा की ओर देख भी लेता था। साइकिल से उतरते ही रामलखन बोला-

"भाई साहब, काम हो गया या अभी अटका हुआ है?"

जैसे ही उसने पूछा- मैंने उत्तर दिया-

"बरही मिस्त्री का समय पता था, इसलिए शुरू में ही चला आया था। तब तक मिस्त्री ने काम शुरू भी नहीं किया था। लेकिन जल्दी आने का फायदा यह हुआ कि चाय-बिस्कुट भी खा-पी लिया। काम हो गया। तुम भी तो अब गाँव ही जा रहे हो न?"

बोलते-बोलते यह बात कह तो दी, मगर बाद में ध्यान आया कि मैं पैदल हूँ और रामलखन के पास साइकिल है, तो हम दोनों रास्ते के साथी कैसे बन सकते हैं।

हाई स्कूल का विद्यार्थी होने के बावजूद रामलखन इतना समझदार है कि जिज्ञासु भाव से बोला- "हाँ, गाँव ही जा रहा हूँ।"

अब तो मानो ऐसा अभ्यास बन गया है कि बिना साइकिल कोई काम ही नहीं होता। यदि पुराने रास्तों के बारे में सोचें, यानी पैदल चलना, तो यह साफ है कि गिरने-पड़ने की स्थिति कम आती है।

खैर, जो भी हो, हम दोनों–यानी मैं और रामलखन–बातचीत करते हुए उत्तर दिशा की ओर धर्मराज के स्थान के पास पहुँचे ही थे कि देखा, रामफल काका लफड़ते हुए पश्चिम से दक्षिण की ओर आते दिखाई दिए।

साठ वर्ष के रामफल काका के जीवन में तीन शादियाँ हुई थीं। पहली पत्नी की मृत्यु के बाद उन्होंने दूसरी शादी की। पहली पत्नी से कोई संतान नहीं हुई थी, लेकिन दूसरी से तीन संतानें हुईं। बच्चे अभी बड़े ही हो रहे थे कि उनकी माँ का देहांत हो गया। दूसरी पत्नी के गुजर जाने के बाद रामफल काका ने तीसरी शादी भी की, जो अब भी जीवित है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है: जब बेटा-बेटी बड़े हो जाएँ, तो क्या फिर से विवाह करना चाहिए या नहीं?

आजकल की विचारधारा से विवाह नहीं करना चाहिए। इसके कारण स्पष्ट हैं। पहले परिवार भी समृद्ध था और समाज भी। आँखों देखे कई ऐसे लोग हुए हैं, जो नि:संतान रहने के कारण या अन्य कारणों से बुढ़ापे में अकेले पड़ गए, पर उनके परिवार या परिवार से जुड़े लोगों ने सेवा का दायित्व उठाकर उनका जीवन निभा दिया।

दूसरा कारण यह भी था कि लोगों की सोच में यह धारणा जीवित थी कि वे अपनी संतान को केवल अपनी संतान नहीं मानते थे, बल्कि परिवार और गाँव-समाज को भी अपने जैसा ही समझते थे।

खैर, जो था, वह था। रामफल काका का अपना ही विचार है।

रामफल काका की पहली पत्नी के मरने के कई कारण बताए जाते हैं। आज भी समाज में कई लोग कहते हैं कि उन्हें, यानी रामफल काका की पत्नी को, नैहर की चुड़ैल उठा ले गई थी। और कुछ लोग यह भी कहते हैं-

"रामफल काका कोई मर्द थोड़े हैं, उनसे पत्नी संभाली जा सकती!"

भाई, जब गाँव के लोग हैं तो चर्चा न हो, यह कैसे संभव है।

पहली पत्नी की मृत्यु के बाद रामफल काका ने दूसरी शादी की। हालाँकि दूसरी शादी में गाँव वालों ने बहुत तिकड़म और अड़ंगे लगाए, मगर रामफल काका ने अपनी चाल पहले ही निशाने पर ले रखी थी। उनकी चाल यह थी कि पत्नी के मरने के बाद उन्होंने शुरू में ही अपने ससुराल की डोर से संबंध जोड़ लिया था। यानी पत्नी की बहन से पहले ही आना-जाना और मेल-जोल बन गया था।

खैर, जो होना था या जो किस्मत में लिखा था, वह सहज ही हो गया, और दूसरी शादी बिना कठिनाई के संपन्न हो गई।

प्रेम की बगिया में आदमी भी गढ़ा जाता है। शादी के सवा साल बाद रामफल काका के घर बेटा पैदा हुआ। भाई, बेटे जैसा धन हाथ लग जाए तो आदमी का मन आशा की धार में बहने लगता है।

समय आगे बढ़ा। जब बेटा चौदह–पंद्रह वर्ष का हुआ और उसके आगे-पीछे दो बेटियाँ भी हो गईं, तब रामफल काका की दूसरी पत्नी भी चल बसी। उस समय उनकी उम्र चालीस–पचास वर्ष के बीच हो चुकी थी। उन्होंने दो वर्ष तक विधुर जीवन बिताया। इसी बीच बेटे और एक बेटी की शादी का बोझ भी सँभाल लिया।

हालाँकि तब तक रसोई-चूल्हे की समस्या नहीं उठी थी, क्योंकि आठ–दस सदस्यों वाला परिवार अपने आप ही रसोई चलाने लगता

है।

शादी के तीन वर्ष बाद बेटा अपनी पत्नी के साथ कलकत्ता चला गया। बड़ी बेटी भी ससुराल चली गई। सामने अब दूसरी बेटी थी, जो रसोई का काम देख रही थी। वह अभी ससुराल नहीं गई थी, लेकिन मन यह मानने को तैयार नहीं था कि शादी के बाद वह भी चली जाएगी, तब रसोई कौन सँभालेगा?

रामफल काका के मन में इस सोच ने धीरे-धीरे दुर्बलता का रूप ले लिया था। हमारे यहाँ अनेक ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने जीवनभर सोलहों आने अपने जीवन को स्वयं सँभाला। जो था, सो था, लेकिन आज के परिवेश में रसोई कोई समस्या नहीं रही, मशीनों के हाथों यह तो दस मिनट का खेल बन चुका है। पर उस समय का परिवेश वैसा नहीं था।

इसी कारण अपनी ज़िंदगी को आधा-अधूरा समझते हुए रामफल काका ने तीसरी शादी कर ली।

हम धर्मराज स्थान के सामने खड़े थे। तभी रामफल काका भी पास आ पहुँचे। उनके चेहरे का रंग उड़ा हुआ देखकर मैंने पूछा-

"काका, इतने घबराए क्यों हैं?"

रामफल काका बोले-

"बेटा, अभी ये सब मत पूछो। पत्नी को तेज़ झटके उठ रहे हैं। बकरी का दूध भी कान में डलवाया है, उससे ठीक नहीं हुई, तो गेंदे के फूल की पत्तियों का रस भी गाड़ दिया। फिर भी आराम नहीं मिला। इसलिए अब बिजलीपुर के धामी के यहाँ दौड़ा जा रहा हूँ।"

इसी बीच रामलखन ने जिज्ञासा से पूछा-

"काका, दरभंगा अस्पताल क्यों नहीं ले जाते हैं?"

अपने अनुभव को सामने रखते हुए, मानो पहली पत्नी की

घटना को आँखों के आगे रखकर, रामफल काका बोले-

"बेटा, पहली जो ब्याही पत्नी थी, उसे भी इसी तरह सीने में दर्द उठा था। गाड़ी किराए पर ली, उठाकर दरभंगा के लिए चल पड़े। मनीगाछी पहुँचते-पहुँचते ही वह मर गई। अब तुम ही बताओ, दरभंगा अस्पताल या डॉक्टर ने क्या काम किया? अब मत रोकना, जा रहे हैं। शाम को बात करेंगे।"

दक्षिण की ओर रामफल काका चले गए और उत्तर की ओर हम दोनों आगे बढ़ गए।

मेरे मन में भी और रामलखन के मन में भी एक साथ जिज्ञासा जाग उठी।

शाम होते ही रामलखन आकर बोला- "भाई, एक बार रामफल काका के यहाँ चलें।"

हम दोनों रामफल काका के यहाँ पहुँचे और पूछा-

"काका, अब सब ठीक-ठाक है न?"

थके-हारे से रामफल काका बोले-

"दम घोंट कर मरने वाला क्या मैं ही हूँ, या और लोग भी हैं?"

रामलखन ने कहा-

"काका, और लोगों की बात और लोग समझेंगे। आप अपनी बात बताइए।"

रामफल काका कुछ नहीं बोले, बस ज़ोर-ज़ोर से रोने लगे। ❑

जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि

☰

मैट्रिक की परीक्षा देने के बाद जीवानन्द का मन दरवाज़े पर बैठे-बैठे ऊब गया। उसे लगा कि कुछ नया सीखना चाहिए। नया सीखने की चाह इसलिए थी कि इस तरह अकेले बैठे रहने से मन यूँ ही नहीं ऊबेगा। जैसे दुनिया में अकेलापन एक ओर अभिशाप है, वैसे ही साधना की भूमि भी है।

खैर, जो भी हो, इस समय चर्चा किसान परिवार के विद्यार्थी जीवानन्द की ही है।

हमारे समाज में 'दरवाज़ा' नाम भले एक हो, पर उसके रूप अनेक होते हैं। मतलब यह कि किसान परिवार का दरवाज़ा पर्व-त्योहारों में और मेहमानों के आने पर गुलज़ार रहता है और बाकी समय निस्तेज हुआ दिखता है। निस्तेज होने का अर्थ यह है कि शाम–सुबह जब चार–पाँच लोग, चार–पाँच परिवार एक जगह बैठकर आज की ज़िंदगी और आने वाले कल पर बातचीत करते हैं, तब तक तो दरवाज़ा आभामय रहता है; लेकिन खेती-बारी और काम–काज में सबके निकल जाने के बाद वही दरवाज़ा मुरझाया हुआ फूल-सा हो जाता है।

वैसे परिवार–दर–परिवार के दरवाज़ों में भी फर्क होता है। कुछ परिवारों के दरवाज़े ऐसे भी होते हैं जहाँ दिन–रात चहल–पहल बनी

रहती है। इसलिए यह कहना भी ठीक नहीं कि ऐसे दरवाज़े नहीं हैं जहाँ घर के दोनों प्राणी कमाने–खटाने बाहर चले जाने के बाद अपने दरवाज़े को छह–छह महीने या सालों–साल सूना और श्मशान जैसा बना लिया गया हो।

खैर, गाँव है। हज़ारों दरवाज़े हैं और हज़ारों घरवाले भी। गाँव–गाँव अलग हैं; जैसे नाम, वैसा ही गाँव होता है।

मन के ऊबते ही जीवानन्द ने गाँव की ओर हिम्मत करके नज़र दौड़ाई, तो उसे समझ में आया कि जो भी हो, दीनानाथ काका तो दरवाज़े पर ही होंगे।

दीनानाथ काका लोअर प्राइमरी स्कूल से सेवा-निवृत्त शिक्षक हैं। पहले, जब वे नौकरी में थे, तब न केवल गाँव के लोग ही नहीं, बल्कि दूसरे गाँवों के लोग भी उन्हें 'दीनानाथ बाबू' कहा करते थे। गाँव के संबंधों के अनुसार उनके कई नाम दबे हुए थे, भैया, काका, बाबा आदि। लेकिन जैसे ही दीनानाथ बाबू सेवा-निवृत्त होकर गाँव में रहने लगे, गाँव के रिश्ते एकाएक सिमटने लगे और अब वे दीनानाथ काका, बाबा, भैया बनकर ही रह गए।

जीवानन्द का मन मान गया कि बेहतर होगा कि वह उन्हीं के पास जाकर कुछ सीखे। दरवाज़े से उठकर जीवानन्द दीनानाथ काका के यहाँ पहुँचा और बोला-

"काका, दरवाज़े पर बैठे-बैठे मन ऊबने लगा, इसलिए चला आया।"

सेवा-निवृत्ति से पहले दीनानाथ बाबू का जीवन बँधा हुआ था, अर्थात शासन और व्यवस्था के नियमों के अनुसार चलता था। तब के विचार-प्रवाह और आज के विचार-प्रवाह में अंतर तो आ ही गया था, लेकिन उनका विवेकी मन यह स्वीकार नहीं कर पा रहा था कि वे साठ वर्ष की उम्र पार कर चुके हैं। दीनानाथ काका के विचारों में इतना

कठोरपन नहीं आया था कि वे स्वयं को पूरी तरह स्वतंत्र मानने लगें।

जैसे जीवानन्द ने सहज भाव से बात कही, वैसे ही दीनानाथ काका ने उत्तर दिया-

"बेटा, तू चाहे जैसा भी हो, आखिर बेटा-भतीजा तो है ही, ऊपर से दियादी परिवार का भी है। अगर मैं तुझसे सच बात नहीं कहूँगा, तो क्या सारी दुनिया को झूठ के घेरे में घेरे रखूँ?"

दीनानाथ काका के विचारों की गंभीरता जीवानन्द ठीक से समझ नहीं पाया। फिर भी उसके मन में इतनी जिज्ञासा जाग उठी कि वह अभी बच्चा है, और दीनानाथ काका के पास साठ वर्षों का अनुभव है, जिसे पूरे जीवन का अनुभव कहा जा सकता है।

जीवानन्द के मन में यह भाव उठा कि यदि पूरे खुलेपन से कह दूँ कि काका, आपकी बात समझ नहीं पाई हूँ, इसलिए ज़रा दोहराकर कहिए," तो फिर ये कान किस दिन के लिए रखे हैं। ऊपर से अब दीनानाथ काका परिवार के वरिष्ठ भी हैं। बेहतर यही होगा कि जैसे कोई व्याकरणाचार्य व्याकरण की कठिन परतें उतारते समय उसका आनंद लेता है, वैसे ही उनसे विनम्रता से कहा जाए, "काका, ज़रा विस्तार से कहिए।

जीवानन्द ने पूछा- "काका, आप अपने परिवार को देखकर दुनिया के परिवारों को समझते हैं, या दुनिया के परिवारों की दृष्टि से अपने परिवार को देखते हैं?"

जीवानन्द की बात सुनते ही दीनानाथ काका एकाएक गंभीर हो गए। उनके गंभीर होने का कारण यह था कि अपना परिवार तो एकरूप होता है, लेकिन दुनिया का परिवार वैसा नहीं होता। वह बहुरूपिया है। फिर दुनिया के परिवार की दृष्टि से अपने परिवार को कैसे देखा जाए?

विचारों की एक धारा में दीनानाथ काका का मन डूब-सा गया,

पर तुरंत ही वह थम भी गया। ठहरने का कारण यह था कि पुराने विचार की पीठ पर एक नया विचार जाग उठा। यह विचार था कि समाज की रीति-नीतियों से ही परिवार भी चलता है। जैसे पर्व-त्योहार होते हैं या खेती-बारी के काम होते हैं, वे सब समाज की देखा-देखी ही होते हैं। अगर ऐसा न किया जाए, तो समाज भी मुँह फेर लेता है।

परिवार और समाज के बीच के संबंध में दीनानाथ काका का मन उलझ गया। इसी उलझन में एक तीसरा विचार उभरा। यह विचार था कि समाज के लोग जो पर्व-त्योहार या खेती-बारी जैसी परंपराएँ निभाते हैं, वे कितनी अच्छी हैं, कितनी उपयोगी हैं और कितनी बुरी या अनुपयोगी हैं।

उसी क्षण दीनानाथ काका के विचार फिर पलट गए। पलटते ही यह समझ सामने आई कि न तो समाज के सारे परिवार एक ही जैसा, यानी एक ही स्तर के होते हैं, और न ही गाँव के खेत-खलिहान या खेती-बारी एक स्तर की होती है। तो फिर एकरूपता कैसे संभव है?

विचारों की दौड़ में दीनानाथ काका जिस ओर भी नज़र उठाते, उधर वैसा ही दृश्य दिखता। जैसे किसी बाँध, वन या आसपास खड़े होकर चारों ओर देखें, तो हर तरफ़ पेड़-पहाड़ से घिरा हुआ प्रतीत होता है। इसे यूँ समझिए, हम लोग गंगा-ब्रह्मपुत्र की तराई में बसने वाले हैं। नेपाल का काठमांडू पहाड़ पर बसा है, मगर जब वहाँ खड़े होकर चारों ओर देखते हैं, तो वह भी ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों से घिरा हुआ ही दिखता है।

मन-ही-मन दीनानाथ काका के विचार मथानी की तरह घुमड़ रहे थे, लेकिन जब उन्होंने अपनी ओर नज़र घुमाई, तो समझ में आया कि हर विचार का उत्तर मिल ही जाए, यह ज़रूरी नहीं। यह भी स्वाभाविक है। उसी क्षण उनके मन में एक पुराना विचार जाग उठा,

मनुष्य भगवान नहीं है, मगर भगवान का अंश तो है ही। फिर बेकार क्यों विचारों को इतना मथते रहना है। ईश्वर के स्वरूप भले ब्रह्मा, विष्णु और महादेव हों, लेकिन मनुष्य तो अनेक स्वरूपों वाला हो सकता है।

विचारों ही विचारों में दीनानाथ काका का मन हल्का हो गया। जैसे मौसम साफ होते ही आदमी बिस्तर छोड़कर उठ बैठता है, वैसे ही दीनानाथ काका भी उठे और सोचा कि क्यों न जीवानन्द से ही कोई प्रश्न कर लिया जाए और उसी के उत्तर से यह भी परखा जा सके कि वह सही दिशा में है या कहीं भटक तो नहीं गया है।

दीनानाथ काका ने जीवानन्द से कहा- "बेटा, अब हम लोग तो तुम लोगों पर ही टिके रहेंगे। इसलिए तुम लोगों से ही हमें भी आशा है।"

जैसे ही दीनानाथ काका ने जीवानन्द को आगे बोलने का अवसर दिया, जीवानन्द ने अपनी बात रास्ते पर खड़ी करते हुए पूछा-

"काका, पूर्ण स्वतंत्रता क्या होती है?"

जीवानन्द का प्रश्न सुनकर दीनानाथ काका निरुत्तर नहीं हुए, लेकिन विचार की गंभीरता पर उन्होंने अवश्य ध्यान दिया। जैसे बड़े-बड़े ग्रंथों या मोटी-मोटी पुस्तकों का सार एक ही शब्द में, यानी शीर्षक में सिमट जाता है, वैसे ही दीनानाथ काका बोले-

"बेटा जीवानन्द, जैसी आँख, वैसी ही पाँख होती है।"

दीनानाथ काका की यह बात सुनकर जीवानन्द मानो ऐसे वन में पहुँच गया, जहाँ चारों ओर रास्ते ही रास्ते दिखते हों और वह इस कदर भ्रमित हो जाए कि समझ ही न आए कि उसकी अपनी राह कौन-सी है। जैसे जयशंकर प्रसाद ने कहा है: "जीवन का उद्देश्य नहीं है शान्ति-भवन में टिक जाना, और पहुँचना उन राहों पर जिसके आगे राह नहीं।"

जीवानन्द बोला- “काका, जैसे पहले मन खाली होकर ऊबने लगा था, वैसे ही अब सुनने के बाद मन और भी ज़्यादा खाली हो गया है।”

हँसते हुए दीनानाथ काका बोले- “बेटा, यही तो साधना की दिशा है। विचार व्यक्त करने से पहले मन खाली था और विचार व्यक्त करने के बाद फिर से खाली हो गया। यही अमन यानी शांति की अवस्था है।”

बोलते-बोलते दीनानाथ काका भाव-विभोर हो गए, मानो उन्हें अपनी स्वतंत्र अवस्था की झलक मिल गई हो। बीच में उन्होंने कहा-

“बेटा जीव, अभी मन बहते-बहते समुद्र की लहरों में उतर गया है, इसलिए ज़्यादा नहीं कहूँगा।”

अपने उत्साह और विचार-प्रवाह में बहते हुए जीवानन्द बोला-

“काका, ज़्यादा नहीं कहिए, यह तो ठीक है, मगर एक बात कहने में तो कोई बाधा नहीं है।”

जैसे मीठे पर मीठा या नमकीन पर नमकीन खाने से मन खिल उठता है, वैसे ही आनंद में डूबते हुए दीनानाथ काका बोले- “बेटा, स्वतंत्र जीवन क्या होता है। यह बात किसी और दिन कहूँगा।” ❑

चौठचंद्र का केला

☰

श्रीपुर और सौरभपुर पास-पड़ोस के दो गाँव हैं। जब दोनों गाँव हैं, तो स्वाभाविक है कि उनमें अनेक जातियों के लोग बसे हुए होंगे। इनमें कुछ जातियाँ समान हैं और कुछ भिन्न, यानी अलग-अलग भी हैं। फिर भी दोनों गाँवों में एक समान विशेषता यह है कि जैसे दोनों गाँवों में दर्जनों जातियाँ रहती हैं, वैसे ही हर जाति का अपना-अपना देवालय भी है, अर्थात अपने-अपने देवता का सार्वजनिक स्थान। यहाँ 'सार्वजनिक' का अर्थ समाज-व्यापी न होकर जाति-विशेष से जुड़ा हुआ है।

दोनों गाँव सौभाग्यशाली भी हैं, क्योंकि वे कोसी नदी की धारा से भी दूर हैं और कमला नदी की धारा से भी। इसी कारण उन्हें कभी बाढ़ का प्रकोप नहीं झेलना पड़ा और वे अपने आप में भाग्यशाली बन गए।

श्रीपुर के मकशूदन और सौरभपुर के जीबछ के बीच गहरी दोस्ती है। वैसे तो दोनों गाँवों के बीच सैकड़ों दोस्तियाँ हैं, कुछ एक ही जाति के लोगों के बीच, तो कुछ अलग-अलग जातियों के बीच भी। पास-पड़ोस के गाँव होने के कारण कथा-कुटुम्ब का रिश्ता, यानी आपसी रिश्तेदारी और सामाजिक मेल-जोल का सिलसिला भी लगातार चलता रहता है।

चौठचंद्र पर्व से चार दिन पहले श्रीपुर के मकशूदन, सौरभपुर के जीबछ के यहाँ केला लेने पहुँचे। मकशूदन और जीबछ ने मैट्रिक तक एक ही स्कूल में साथ पढ़ाई की थी। उसी समय–लगभग पचपन-साठ वर्ष पहले–एक ही कक्षा में पढ़ते हुए उनकी दोस्ती हुई थी। मैट्रिक पास करने के बाद मकशूदन रेलवे पुलिस में नौकरी करने लगे, जबकि जीबछ गाँव में ही रहकर खेती-बारी सँभालने लगे। खेती अपनाने का कारण यह था कि एक तो वे भाइयों में अकेले थे और दूसरे, परिवार के स्नेह-जाल का भार भी फैल चुका था। अर्थात, जैसे एक मध्यम श्रेणी के किसान परिवार की बनावट होती है, वैसी ही जीबछ के परिवार की भी थी।

उनके पास पाँच बीघा जोत की ज़मीन थी, जिसमें हर तरह के अनाज की खेती होती थी। साथ ही दस कट्ठा बाग-बगीचा, पंद्रह कट्ठा का एक पोखर था, जिसमें मछली और मखाना पैदा होते थे। खूँटे पर दो भैंसें भी थीं। इतना सब होते हुए भला कोई नौकरी क्यों करे।

ऊपर से गाँव-समाज में यह मौखिक शिक्षा भी चलती रहती है कि मनुष्य का जीवन तभी सुंदर होता है जब वह माया-मोह से थोड़ा हटकर रहे। खैर, जो जैसा था, जीबछ को उससे कोई विशेष सरोकार नहीं था। उनका बस इतना ही उद्देश्य था कि जैसे उनके पिता रघुवीर ने अपना पुरुषार्थपूर्ण जीवन समाज में बिताया, वैसे ही वे भी बिताएँ।

परिवार में दो भैंसें थीं, जिनकी चरवाही जीबछ ने पंद्रह-सोलह वर्ष की उम्र से शुरू की थी और यह जिम्मेदारी उन्होंने पिता के जीवित रहने तक निभाई। भाई, परिवार तो परिवार होता है, सबके मन में यही रहता है कि अपने परिश्रम से ही परिवार चले। इस सोच में कोई कमी नहीं होती, क्योंकि तभी व्यक्ति अपनी क्षमता का परिचय दे पाता है।

थोड़ी कमी वहाँ आ जाती है, जहाँ परिवारजन सामूहिक रूप से काम करते हैं। लेकिन अगर व्यक्तिगत रूप से काम की ज़िम्मेदारी

दी जाए, यानी किसी पुराने काम को नए ढंग से करने या किसी नए काम की जिम्मेदारी व्यक्ति-व्यक्ति को सौंपी जाए, तो बात सँभल जाती है।

खैर, यह सब हो या न हो, मकशूदन और जीबछ के लिए इससे कोई खास फर्क नहीं पड़ता था। फर्क इस बात से भी नहीं पड़ता था कि वे दो गाँवों और दो जातियों से होने के बावजूद, हाई स्कूल में बनी दोस्ती को जीवन भर निभाते रहे।

रेलवे पुलिस की नौकरी में रहने के कारण मकशूदन महीने में दो-दो बार, नहीं तो कम से कम एक बार गाँव आ ही जाया करते थे। जिसे किराया-भाड़ा देना पड़ता है, उसी का तो महीना-महीना हिसाब-किताब में निकल जाता है; लेकिन जिसके पास साधन हो, उसके आने-जाने में भला क्या बाधा हो सकती है!

बाहर रहते हुए भी मकशूदन और जीबछ के बीच मिलना-जुलना बना ही रहता था, इसलिए उनके जीवन के प्रवाह में कभी एकरसता या ठहराव नहीं आया।

सेवानिवृत्ति के पंद्रह वर्ष बाद मकशूदन जीबछ के यहाँ पहुँचे। समय रौद्र रूप लिए हुए था। भादो महीने की धूप और गर्मी आम दिनों की तुलना में और भी तीखी हो जाती है।

यहाँ 'तीख' शब्द का एक अर्थ समझ लेना ज़रूरी है। भोजपुरी में 'तीख' का अर्थ 'तीत' माना जाता है, और मिर्च के स्वाद को 'तीत' कहा जाता है। लेकिन हम मैथिल लोग 'तीख' का अर्थ 'कड़ुआ' समझते हैं, इसलिए मिर्च के स्वाद को 'कड़ुआ' कहते हैं। खैर, जिसे जैसा मन हो, शब्द गढ़े; पर जिसे शब्द कहा जाए, वह भी तो समझे, तभी बात बने।

सुबह की उमस में मकशूदन केले की खोज लेकर जीबछ के यहाँ पहुँचे। समय लगभग दस बज रहा था। जीबछ बाड़ी में, केले के

खेत में काम समेटने में लगे थे। यानी, वह समय काम के अंतिम चरण का था।

जीबछ समय पर काम छोड़ देने वाले आदमी थे, क्योंकि काम भी बहुरूपिया से कम नहीं होता। काम अपने आकर्षण में आदमी को इस तरह न जकड़ ले कि समय का ठिकाना ही न रहे और जीवन बेठिकाना हो जाए। बेठिकाना होना जीवन की गति में बाधा बन जाता है। और जैसे ही बाधा आती है, वैसे ही दिनचर्या, अर्थात जीवन की लय, टूटने लगती है, जिससे पूरी ज़िंदगी प्रभावित हो जाती है।

टेम्पो से सड़क पर उतरकर मकशूदन अपने परिचित दरवाज़े पर पहुँचे और परिचित आवाज़ में बोले-

"घर में कोई है, क्या?"

अब तक के रिश्ते में मकशूदन जीबछ को 'हौ' कहते थे और जीबछ भी मकशूदन को 'हौ' ही कहा करते थे। दरवाज़े पर आवाज़ सुनते ही जीबछ का पोता–स्वरूपलाल–आँगन से बाहर आया और मकशूदन को देखते ही बोला-

"बाबा, प्रणाम। ऐसे समय में आप घर से क्यों निकल पड़े?"

बिना काम के रहने वाला आदमी आराम की तलाश करता है, मगर काम करने वाला आदमी तो हर समय काम ही खोजता रहता है। निडर स्वभाव के मकशूदन, जो जीवन भर ट्रेन के यात्रियों के बीच रहें, बोले-

"बेटा, पहले अपने बाबा को बुला देना। मैं काम में भी हाथ बँटाऊँगा और बातचीत भी चलती रहेगी।"

जैसे ही मकशूदन ने यह कहा- वैसे ही स्वरूपलाल जीबछ बाबा को बुलाने चल पड़ा। दरवाज़े से एक कट्ठा भर हटकर केले की करजान थी, जहाँ जीबछ काम कर रहे थे। आड़ पर खड़े होकर

स्वरूपलाल बोला-

“मकशूदन बाबा आए हैं।”

मकशूदन का नाम सुनते ही जीबछ ने वहीं अपना काम रोक दिया और लौट पड़े। दरवाज़े पर आते ही सामने खड़े बालक–यानी सत्रह वर्ष के स्वरूपलाल–को देखकर जीबछ ने अपने विचार को सँभालते हुए मकशूदन को देखकर कहा-

“भाई, पहले पानी पियोगे या चाय?”

अपने सधे हुए जीवन का परिचय देते हुए मकशूदन बोले-

“हम दोनों कोई दो अलग लोग हैं कि मुझे यह संकोच हो कि खाया या नहीं खाया, या तुम्हें यह लाज हो कि दरवाज़े पर आए अन्य गाँव के आदमी को सूखे मुँह लौटा दिया।”

विचार और व्यवहार की लय में जीबछ बोले-

“संकोच क्यों होगा। बाप-दादों की कहावत है, ‘मिलकर काम करो, हार-जीत में कोई लाज नहीं।’ और जब हम दोनों एक-दूसरे जानते हैं, तो किसी और से मतलब ही क्या?”

मकशूदन बोले-

“जीबछ, तुम भी बैठो। बेटा स्वरूप, तुम भी बैठो। पानी नहीं पियूँगा, क्योंकि डॉक्टर ने मना किया है कि बाहर का पानी न पीऊँ। सिर्फ अपना, यानी शुद्ध पानी ही पीता हूँ। इसलिए देख रहे हो, जेब में पानी की बोतल रखी है। और दूसरी बात, चाय भी अब नियमित ही पीता हूँ, एक कप सुबह और एक कप शाम। इसलिए अभी चाय भी नहीं पियूँगा।”

वैसे तो जीबछ समझ ही रहे थे, मगर अपने ही मुँह से जीवन के अनुभव सुनकर जैसे विश्वास का बीज झड़ता-पड़ता है, उसी पर ध्यान टिकाते हुए बोले- “भाई, अब हमारी उम्र कितनी हो गई है, यह

बात भी अब अगली पीढ़ी को ही बता दीजिए न।"

जीबछ और उसके परिवार से जुड़ाव ने मकशूदन को इतना अतीत की ओर मोड़ दिया कि उनके शब्द मानो खो से गए, फिर भी वे बोले-

"बेटा स्वरूप, तुम तीसरी पीढ़ी हो। जैसे तुम यहाँ हो, वैसे ही मेरा भी पोता है। मैं रेलवे पुलिस से पंद्रह साल पहले रिटायर हुआ था। अब अस्सी वर्ष पूरे होने में सिर्फ दो साल बाकी हैं।"

मकशूदन की बात स्वरूपलाल ने अपनी दृष्टि-सृष्टि से श्रवण किया और मन ही मन दोनों की तुलना करने लगा। व्यावहारिक जीवन और वैचारिक जीवन को एक ही धरातल पर रखकर उसने उसी नज़र से देखा, जैसी नज़र से बी.ए. कक्षा का विद्यार्थी देखा करता है।

इसी बीच जीबछ ने अपने काम की ओर ध्यान देते हुए कहा-

"पहले काम की बात कर लो।"

मकशूदन बोले-

"आज कुशी अमावस्या है। आज के दिन से यानी पंद्रह साल से हर साल इसी दिन मैं केला लेने आता रहा हूँ।"

जीबछ को यह बात पहले से ही समझ में थी, बस याद आ गई। वे बोले-

"चलो, केले के बगान में टहलकर देख लेते हैं। जो पसंद आए, वही ले लेना।"

तीनों, यानी मकशूदन, जीबछ और स्वरूपलाल, केले के बगान में पहुँचकर टहलते हुए हर पौधे और घौर पर नज़र डालने लगे। काटने लायक एक घौर देखकर मकशूदन बोले-

"यह घौर तो काटने के लायक है! मगर इतना बड़ा घौर लेने से खाएगा कौन! इसलिए तो पिछले तीन साल से बहू के किए व्रत की

पूर्ति के लिए छोटा-सा घौर ही खोजता हूँ।”

जिस तरह जगह देखते ही आदमी तय कर लेता है कि यही रहने-जोग जगह है, उसी तरह जीबछ बोले-

“चौठचंद्र की डाली तो केला के हत्थों से ही सजाया जाता है। हाँ, छठ में घौर चढ़ाया जाता है। फिर तुम बीच में इतना क्यों घबरा गए?”

हँसते हुए मकशूदन बोले- “टेम्पो पकड़कर जाना पड़ेगा।”

जीबछ ने कहा- “पर्व के बीच यह कबूलनामा कैसे हो गई?”

जीबछ का संकेत समझकर मकशूदन बोले-

“तुम ही बताओ, जब सोलहों आना पूजा करते ही हैं, तब बीच में केले की घौर का कबुलनामा झंझट कहाँ से आ गया। धूप तेज़ हो रही है, फिर कल आकर गाँव के दूसरे-तीसरे केले के बगान भी देख लेंगे।”

❑❑❑
❑❑
❑

Notes